# लेखनी उठाने के पूर्व

या

●

सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०

[ *श्रीभारतीय* ]

किताब महल

इलाहाबाद

# श्री भारतीय की अन्य पुस्तकें

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | रुमानिया की कहानियाँ | ... | १।।) |
| २. | जानी दुश्मन (कहानियाँ) | ... | १।।।) |
| ३. | एलबम ( शब्द-चित्र) | ... | १।।।) |
| ४. | सोलह कहानियाँ | ... | २) |
| ५. | मनोहर कहानियाँ भाग १ | . | ।।) |
| ६. | ,, ,, ,, २ | | ।।) |
| ७. | ,, ,, ,, ३ | ... | १) |
| ८. | ,, ,, ,, ४ | ... | १) |
| ९. | आकाश की झाँकी (सचित्र, सरल-विज्ञान) | | १) |
| १०. | चीनी यात्री सूयेन च्वाँग (जीवन-चरित्र) | ... | १।।) |
| ११. | नये-चित्र (कहानियाँ) | ... | २) |
| १२. | एशिया की कहानियाँ | ... | १।।) |
| १३. | खलीफ़ा (मौलिक कहानियाँ) | ... | १।) |
| १४. | हिन्दी के विराम-चिह्न | ... | ।।।) |
| १५. | लेखनी उठाने के पूर्व या लेखक-बन्धु | ... | २) |
| १६. | सरल रामायण | ... | ।।।) |
| १७. | तार के खम्भे (कहानियाँ) | ... | १।।) |

---

मुद्रक—शारदा प्रेस, नया-कटरा—प्रयाग

# परिचय

हिन्दी में लेखन-कला सम्बन्धी साहित्य की जो कमी है वह किसी से छिपी नहीं है। इसी कमी की पूर्ति के लिए 'लेखक-संघ' ने 'लेखक' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। 'लेखक' के सम्पादन और संचालन का भार मेरे ही ऊपर था। दो वर्षों में समय-समय पर 'लेखक' में लेखन-कला तथा पत्रकार-व्यवसाय सम्बन्धी मेरे अनेक लेख प्रकाशित होते रहे। प्रस्तुत पुस्तक में मेरे उन्हीं लेखों में से कुछ लेख संग्रहीत हैं। प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने पर, पाठकों की माँग को देखते हुए, हमें तुरन्त दूसरा संस्करण प्रकाशित करते हर्ष होता है। आशा है इस संस्करण से हमारे नवयुवक लेखक-बंधु उचित लाभ उठायेंगे।

इस संग्रह में 'प्रूफ़ संशोधन' नामक लेख मेरे मित्र तथा 'लेखक' के सहयोगी संपादक श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय की रचना है। उसे उद्धृत करने के लिए हम उनके आभारी हैं।

भारतीय

# विषय-सूची


| विषय | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १. लेखनी उठाने के पूर्व | ... | १ |
| २. हम किस पर लिखें ? | ... | ६ |
| ३. कवि-चर्य्या और लेखक-चर्य्या | ... | २० |
| ४. जब हम लिखने बैठें ! | ... | ३० |
| ५. शैली | ... | ३८ |
| ६. कहानी कैसी हो ? | ... | ४८ |
| ७. कहानी और कहानी लिखना | ... | ५४ |
| ८. उपन्यास रचना | ... | ८५ |
| ९. रूपक और रेडियो ड्रामा | ... | १०० |
| १०. हास्य और उसकी सृष्टि | ... | ११२ |
| ११. बच्चे क्या पढ़ना चाहते हैं ? | ... | १३१ |
| १२. लोमहर्षक आख्यान | ... | १३६ |
| १३. उपनाम की आवश्यकता | ... | १४८ |
| १४. रचनाओं का नामकरण | ... | १५६ |
| १५. सफल पत्रकार | ... | १६४ |
| १६. कापीराइट क़ानून | ... | १७४ |
| १६. सफलता की कुञ्जी | ... | २०२ |
| १८. प्रूफ़-संशोधन | ... | २११ |

# १—लेखनी उठाने के पूर्व

लेखनी उठाने के पूर्व हमें लेखन-कला के विषय में कुछ ज़रूरी बातें जान लेना आवश्यक है। यह न समझिए कि केवल हिन्दी-भाषा-भाषी होने के नाते कोई भी व्यक्ति हिन्दी में लेखक बन सकता है। यों, अपनी भाषा में टूटे-फूटे शब्दों में यदि आपने अपने विचार प्रकट ही कर दिये तो कोई बड़ी बात नहीं हुई। लेखक वही होगा जो लेखन-कला के सिद्धान्तों के अनुसार अपने विचारों को लिपिबद्ध करने में समर्थ हो।

प्रश्न उठता है, लेखन कला क्या है? इसका उत्तर जितना आसान है उतना उस कला की प्राप्ति नहीं। कहने को लेखन-कला से तात्पर्य है—'अपने विचारों को ठीक-ठीक लिख सकने की योग्यता।' परन्तु यह योग्यता—यदि सचमुच हम पूर्णरूप से प्राप्त करना चाहें तो—कितना कठिन कार्य है। यदि आप संसार के नामी और सफल लेखकों के वृत्तान्त पढ़ सकें तो आपको मालूम होगा कि अपनी कला में सफलता प्राप्त करने के पूर्व उन्होंने कितना परिश्रम किया था। सफलता का मार्ग कभी इतना सुगम नहीं रहा।

हिन्दी-जगत में लेखक बनने की अभिलाषा बढ़ती ही जा रही है। यह हमारी भाषा के लिए शुभ लक्षण है, परन्तु साथ ही साथ हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिए

कि केवल हमारी रचनाओं के टाइप में छप जाने से हम लेखक-पद को नहीं प्राप्त हो सकेंगे। लेखन-कला एक महत्वपूर्ण कार्य है। लेखक का पद एक गौरवपूर्ण और उत्तरदायित्व से लदा हुआ पद है। लेखक बनने के लिए परिश्रम और अभ्यास की अपेक्षा है। केवल भाषा-प्रेम, लिखने का उत्साह और छपाने की धुन से काम नहीं चलेगा। अतः लेखनी उठाने के पूर्व हमें यह जान लेना उचित है कि लेखन-कला के साधारण नियम क्या हैं—लेखक बनने के लिए हमें कम से-कम क्या होना चाहिए।

लेखन-व्यवसाय अंगीकार करने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारे व्यवसाय में केवल शब्दों और वाक्यों की सब से अधिक दरकार है। यदि ये हमारे पास नहीं तो हम अपने विचार कैसे प्रकट करेंगे ? शब्द और वाक्य ही हमारे विचार को प्रकट करने के माध्यम हैं। अतः लेखक बनने की इच्छा रखनेवाले को सर्व-प्रथम अपनी भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह न समझिए कि हिन्दी हमारी मातृभाषा है, अतः, हम उसमें बोलने के अतिरिक्त लिखने के भी अधिकारी हैं। बोल-चाल के अतिरिक्त हमारी भाषा का एक साहित्यिक रूप भी है जिससे पूर्णरूप से अवगत होना परम आवश्यक है। हमारी भाषा में यद्यपि अभी कोई ऐसा कोष नहीं जिसमें हिन्दी के समस्त शब्द वर्तमान हों, परन्तु फिर भी वर्तमान साहित्य के अध्ययन से हम बहुत कुछ अपनी भाषा का

व्यापक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भाषा-ज्ञान के लिए निरन्तर अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। बार बार पढ़ते रहने से शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ हम ग्रहण कर लेते हैं और उनका उचित प्रयोग भी हमें करना आ जाता है। शब्दों का ठीक ठीक अर्थ जानना, उनकी शक्ति का पूर्ण ज्ञान रखना—लेखक के लिए बड़े काम की वस्तु है। लेखक बनने की इच्छा रखने ही प्रथम हमें अपने शब्द-भण्डार को बढ़ाना चाहिए और उनकी 'शब्द शक्ति' से अवगत होना चाहिए। जितना ही विस्तृत हमारा शब्द-ज्ञान होगा—जितना ही हमें उनकी शक्ति का ज्ञान होगा उतना ही सफलता और सुन्दरता से हम अपने विचारों को लिपिबद्ध कर सकेंगे।

शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करते समय हमें सतर्क रहना चाहिए, जिसमें हम अनजान में किसी भी शब्द का व्यर्थ प्रयोग न कर बैठें। अनावश्यक शब्दों का प्रयोग हमारी रचना में शैथिल्य ला देता है। यदि थोड़े शब्दों में लेखक अधिक विचार प्रकट कर सकता है तो उसे ही लोग सफल लेखक समझते हैं।

प्राचीन कवियों को लीजिए। सूर, तुलसी, बिहारी अथवा संस्कृत में कालिदास, भास वा वाल्मीकि आदि को अपनी भाषा पर कितना प्रभुत्व था। एक शब्द व्यर्थ लिखना उनके लिए असम्भव था। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ पढ़ते ही उनके विचार सीधे हृदय तक

पहुँचते हैं। अतः, भाषा-ज्ञान के साथ-साथ लेखक को. लिखते समय, अपने प्रत्येक शब्द और वाक्य पर भली भाँति नियंत्रण रखना उचित है। यह कैसे होगा ?

लिखते समय प्रायः ऐसा होता है कि हमारे विचार हमें लिख चलने पर विवश करते हैं और हम लिखते ही चले जाते हैं। परन्तु उन्हें पढ़ने पर हमें अपनी कमी दिखाई पड़ती है कि हमने बड़ी शिथिल भाषा लिखी, कितने व्यर्थ शब्द प्रयोग किये, कितनी बार पुनरुक्ति का अपराध किया। अब प्रश्न होता है, ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर प्रसिद्ध लेखक विलियम फ्रीमैन ने यों दिया है। आप कहते हैं—

"मेरे विचार से ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम यह कि अनुभव-रहित लेखक इसका बिल्कुल ध्यान नहीं रखता कि लेखनी उठाने के पूर्व उसे कितना सोचने की आवश्यकता है। वह इस बात का ध्यान नहीं रखता कि लिखने के पहले उसे अपने सारे विचारों को शृङ्खलाबद्ध करना उचित है, और अपने मस्तिष्क में उन्हें आरम्भ से अन्त तक क्रम से सोच कर बैठा लेना चाहिए था। यदि ऐसा हो सके तो लेख को बार-बार लिखना और फाड़ना न पड़े। दूसरी बात यह है कि लेखक अपनी कल्पना-शक्ति से उन सारी बातों का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर लेता जिन्हें उसे लिखना है। उसे सोचते हुए आलस लगता है और वह इससे बचने के लिए केवल शब्दों के आडम्बर मात्र से

चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। इसका फल यह होता है कि उसकी वर्णित घटनाएँ न रोचक हो पाती हैं और न पाठक उन्हें पढ़कर कोई काल्पनिक चित्र ही अपने मन में बना पाते हैं। अतः, वे उसे पढ़ना व्यर्थ समझते हैं। इसी में लेखक की असफलता होती है। सफल लेखक वही हो सकता है जिसकी रचनाएँ पढ़कर पाठक अपने मन में कुछ समझ सकें। अन्यथा, वे अपना समय क्यों खोने लगे?"

लेखक अपने विचारों को स्पष्ट और हृदयगम कराने के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है। प्राचीन समय में काव्य में अलंकारों का एक विशेष स्थान था। बोल-चाल की भाषा में हम नित्य अलंकारों का प्रयोग करते रहते हैं। अलंकारों का उपयोग केवल विचारों को शीघ्र हृदयंगम करने में सुविधा उपस्थित करने तथा हृदय पर उनका उचित प्रभाव उत्पन्न करने मात्र में है। अतः, अलंकारों का बहिष्कार उचित नहीं। परन्तु साथ-ही-साथ यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि यदि अलंकारों का ठीक प्रयोग नहीं हुआ तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। अतः अलंकारों का प्रयोग करते समय उन्हें ठीक तौर से समझ कर प्रयोग करना उचित है। लेखक को 'अलंकार' का साधारण ज्ञान होना परम आवश्यक है—और इससे अधिक आवश्यकता है उसे इस बात के स्मरण रखने की कि बिना समझे हम किसी अलंकार का प्रयोग नहीं करेंगे।

बिना समझे कुछ भी लिखना ठीक नहीं। जिस शब्द, अलंकार अथवा वाक्य के विषय में आपको संदेह हो तुरन्त उसे मिटा लीजिए। यदि सन्देह नहीं मिट सका हो तो उसे कभी न लिखिए। सम्भव है अनजान में वे आप की रचना के उद्देश्य पर पानी फेर दें—आपके आशय के विरुद्ध भाव व्यक्त कर बैठें।

शब्द-भण्डार, शब्द-शक्ति, अलंकार आदि के साथ-साथ वाक्य-रचना पर भी ध्यान देना सफल लेखक के लिए परमावश्यक है। वाक्य वे ही हों जो हमारे विचारों को पूर्णरूप से व्यक्त करें। इसके लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। साधारण व्याकरण के अनुसार वाक्य में कर्ता, क्रिया आदि होनी चाहिए। परन्तु यदि एक शब्द सम्पूर्ण भाव को प्रकट कर सके तो उसे भी वाक्य ही समझना ठीक है। लेखक को सब से पहले इस पर ध्यान रखना चाहिए कि उसके वाक्य अपने पूरे भाव को व्यक्त करने में समर्थ हैं वा नहीं। यदि हैं तो वे ठीक हैं। प्रत्येक लेखक अपनी विशेष शैली के अनुसार छोटे-बड़े वाक्य लिखता है तथा उनमें वाक्यांशों का क्रम रखता है। इसी में उसका व्यक्तित्व है। अतः वाक्यों का छोटा अथवा बड़ा होना व्यक्तिगत रूप से उस लेखक के ऊपर निर्भर है। हाँ, इस बात का अवश्य सभी को ध्यान रखना होगा कि उनके वाक्यों में स्वाभाविक रूप से प्रवाह हो और वे पाठकों की समझ में अच्छी तरह आ जायँ। एक समय था जब

संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य में बाण की शैली भी प्रचलित थी। परन्तु ऐसी शैली सर्वप्रिय नहीं हो सकी। हिंदी में भी कभी इस शैली की नक़ल की जाती थी। परन्तु इस समय तो वाक्य-रचना जितनी ही सरल, स्वाभाविक और शीघ्रता से समझ में आ-सकनेवाली हो उतनी ही वह अच्छी समझी जाती है।

लेखक को अपनी रचना को पूर्ण रूप से सुबोध बनाने के लिए उसमें यथास्थान विराम-चिह्न भी लगाना उचित होता है। विराम-चिह्नों का प्रचार पहले उतना नहीं था, परन्तु मुद्रण-यंत्रों के प्रचार के साथ-साथ तथा अंग्रेज़ी की देखा-देखी हिन्दी में भी विराम-चिह्नों का प्रयोग बहुतायत से होने लगा है। यह अच्छा ही हुआ। यदि हमें अपनी भाषा को आधुनिक युग के काम की बनानी है तो हमें दक़ियानूसी विचारों को छोड़ना पड़ेगा। विराम-चिह्नों के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना लेखक के लिए आवश्यक है। परन्तु लेखक को कुछ विशेष विराम-चिह्नों के विषय में अधिक सावधान रहना चाहिए, जैसे विस्मय-सूचक चिह्न ( ! )। देखा जाता है कि आजकल हिन्दी के लेखक इस चिह्न का बड़ी लापरवाही से प्रयोग कर बैठते हैं। यह चिह्न वहीं काम में आता है जहाँ आश्चर्य, विस्मय, भय आदि का प्रदर्शन अभीष्ट होता है अथवा जहाँ इच्छा, आशा अथवा प्रार्थना व्यक्त करनी होती है। अतः, इस चिह्न का बड़ी सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। यह

नहीं कि केवल 'सनसनी' की इच्छा से जहाँ चाहा इस चिह्न का प्रयोग कर दिया। यदि यह चिह्न सोच-विचार कर काम में नहीं लाया जायगा तो आप की रचना को यह उपहास्य बना देगा और उसकी गम्भीरता और महत्व को हलका कर देगा।

दूसरा चिह्न प्रश्न-सूचक ( ? ) है, जिसके विषय में भी सावधान रहना चाहिए। यह देख लेना चाहिए कि हमारे वाक्य का तात्पर्य प्रश्न से है या नहीं। यदि है, तो इस चिह्न का प्रयोग उचित है। केवल सम्बोधन करते समय इसका प्रयोग व्यर्थ है। ऐसे अवसर पर विस्मय सूचक-चिह्न ( ! ) का प्रयोग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिन्दी में 'डैश' ( — ) का भी प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा है। 'डैश' या 'लोप-चिह्न' वहाँ काम में आता है जहाँ विचारधारा में कोई रुकावट वा गतिरोध अथवा परिवर्तन उपस्थित होता है। जहाँ तक हो लोप-चिह्न ( — ) का प्रयोग कम करना चाहिए। अधिक प्रयोग से वाक्य के संगठन में शिथिलता आ जाती है।

अवतरण-चिह्नों ( " " ) का भी प्रयोग उचित रूप से न होने पर रचना की सुन्दरता जाती रहती है। इसी प्रकार साधारण रूप से विराम-चिह्नों के प्रयोग का अच्छा ज्ञान लेखक को पूर्व ही प्राप्त कर लेना उचित है। संक्षेप में, लेखनी उठाने के पूर्व, लेखक को लेखन-कला के ये साधारण नियम जान लेना परम आवश्यक है। इसे

लेखन-कला का 'अइउण्' समझना चाहिए। परन्तु लेखक को अपनी कला में सफलता प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील होना उचित है। इस हेतु उसे स्वतः अनुभव प्राप्त करना पड़ेगा और इसके लिए निरन्तर उसे अध्ययन, चिन्तन और लेखन का अभ्यास करना आवश्यक है।

# २—हम किस पर लिखें ?

लेखक के नाते हाथ में लेखनी लेते ही हमारे सामने यही प्रश्न उपस्थित होता है कि हम किस पर लिखें ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए जैसे हमारे पास समय नहीं रहता और हम केवल क्षणिक प्रसंशा या सामयिक रुचि के वशीभूत होकर लिख चलते हैं और तब तक लिखते रहते हैं जब तक कोई साहित्य का शुभ-चिंतक हमारी रचनाओं पर आक्षेप नहीं करता। उस समय अपनी कृति के प्रति अपने राग के कारण, हम उसके अनौचित्य के विषय में अनभिज्ञ होते हुए भी, कभी-कभी अपने आलोचकों के उद्देश्य पर आक्रमण कर अपनी रक्षा करना चाहते हैं। परन्तु, यह धोके की टट्टी कितने दिनों तक ठहरती है ? फलतः, हम एक दिन अपनी कृति से कमाई हुई प्रसंशा की सारी निधि खो बैठते हैं, और इतना ही नहीं दण्ड-स्वरूप हमें साहित्य क्षेत्र से बहि-

ष्कृत भी होना पड़ता है। अतः, यह सर्वथा उचित और आवश्यक है कि क़लम उठाने के पूर्व हम पहले इस पर अच्छी तरह विचार कर लें कि 'हम किस पर लिखें ?'

हम किस पर लिखें ? यही सब से कठिन प्रश्न हमारे सामने इस समय उपस्थित है। यह प्रश्न उतना कठिन नहीं रहता जितना हम उसे बना रहे हैं। परन्तु इसके पूर्व हमें अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान होना आवश्यक है। हम लेखक क्यों बनने जा रहे हैं ? हम लिखते क्यों हैं ? हमारे लिखने की आवश्यकता क्यों है ? यदि हम चुप रहें तो क्या हानि है ?—इत्यादि प्रश्न यदि हम अपने से करें, तो हमें अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता। क्षण भर के लिए आप सोचें—आप क्यों लेखक बनने जा रहे हैं ? दो ही कारण हो सकते हैं—स्वार्थ या परमार्थ। यदि आप उदर-पोषण के लिए पढ़ने-लिखने का व्यवसाय अंगीकार करते हैं तो भी आपको स्मरण रखना चाहिए कि आपकी गंदी चीज़ और खोटा माल बाज़ार में कितने दिनों ग्राहकों को धोका देता रहेगा। क्या आप समझते हैं आप भ्रम में पड़े हुए, भूले पाठकों की कम-ज़ोरियों और कुरुचिपूर्ण साहित्यिक कुतूहल का अधिक समय तक लाभ उठा सकते हैं ? माना कि, कुछ समय के लिए आप की चीज़ की माँग बढ़ गई। परन्तु, क्या आप समझते हैं कि संसार में केवल कलाल का व्यवसाय ही सर्वश्रेष्ठ समझा जावेगा ? और ऐसा कौन सा समय

चिरस्थाई रहा है जब केवल शराब-बेचनेवाले ही सदा सर्वोपरि रहे हों ? जीवन-शक्ति का विनाश करनेवाली वस्तु अधिक दिनों तक कैसे जीवित रहेगी ? वह तो मूर्ख की भाँति डाल पर बैठ कर उसी का विनाश करने का प्रयत्न करती रहती है। फिर वह कैसे सुरक्षित रह सकती है ? ऐसी दशा में स्वार्थ कैसे सिद्ध होगा ? इसे सोचिए तो !

यदि हम परमार्थ के नाम पर लिखते हैं—यद्यपि हम समाज में रहते हुए 'परमार्थ' ऐसे शब्द की कल्पना करने में बिल्कुल असमर्थ हैं—तो हमारा मन्तव्य है कि परमार्थ भी स्वार्थ का एक सभ्य और सुसंस्कृत रूप है। यदि हम समाज में रह कर दूसरों की भलाई करते हैं तो क्या हम दूसरों के द्वारा की हुई भलाई का लाभ नहीं उठाते ? सच बात तो यह है कि परामर्थ भी स्वार्थ से ही प्रेरित होकर किया जाता है। अंतर केवल इतना ही होता है कि एक के प्रतिफल के तुरन्त मिलने की अभिलाषा रहती है, दूसरे का प्रतिफल कुछ समय बाद मिलता है। एक सीधा सौदा है, दूसरा सभ्य समाज का मनुष्योचित व्यवहार। ऐसी दशा में यदि हम परमार्थ से प्रेरित होकर साहित्य की सृष्टि करने में हिचकते हैं तो हम निश्चय अपने स्वार्थ के प्रति विमुख हो रहे हैं। हाँ, यदि हम परमार्थ से प्रेरित होकर लेखनी हाथ में लेते हैं तो भी हमारा उत्तरदायित्व हलका नहीं हो जाता। यह न सोचिए कि उपदेश देना मात्र ही परमार्थी लेखकों के धर्म की इतिश्री है।

हमारे लिए अब स्वार्थ और परमार्थ का प्रश्न समान-सा हो गया है। दोनों में अपना ही लाभ है। केवल नामकरण का भेद रह गया। अब प्रश्न यह है कि, 'हम क्यों लिखते हैं ?' संसार के अन्य व्यवसायों या व्यापारों में लेखन-कला को सर्व-प्रधानता क्यों दी गई। इसीलिए कि इसका सम्बन्ध संसार के किसी स्थूल पदार्थ से न होकर हमारे विचारों से है, जिनकी कोई सीमा नहीं, रूप नहीं, रंग नहीं। वे यदि प्रकट होते हैं तो लेखक ही द्वारा और लिपिबद्ध होकर ही वे सर्वसाधारण तक पहुँच सकते हैं। प्राचीन काल की कला-कौशल के ध्वंसावशेष तो नष्ट होते-होते भी अभी कुछ-कुछ कहीं दिखाई पड़ जाते हैं, परन्तु प्राचीन काल में मनुष्य क्या सोचता था, संसार का उसने क्या अनुभव किया था, उसे क्या समझा था—इसका प्रमाण यदि साहित्य में न हो तो हमें अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ? यही कारण है कि साहित्य समाज की मनोवृत्ति का स्थूल रूप माना गया है। साहित्य ही के द्वारा हम किसी समाज के हृदय को पहचान सकते हैं। हमारे लेखों ही के द्वारा आगे चलकर लोग हमारे इस युग की मनोवृत्ति का अंदाज़ लगायेंगे। अतः, क्या यह उचित नहीं है कि हम साहित्य की सृष्टि करते समय इसे न भूलें कि हमारे प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक भाव, आज और आज से कुछ वर्षों बाद हमारे व्यक्तित्व, हमारी मनोवृत्ति और हमारे वास्तविक रूप को प्रकट करेंगे। और यदि

हम पाठकों की आँखों में किसी महत्व के नहीं जँचे तो हमारा लिखना पढ़ना व्यर्थ ही होगा।

हमारे लिखने की आवश्यकता क्यों है ? इसका उत्तर कौन देगा। यदि हम यह मानते हैं कि साहित्य ही सभ्य समाज का चिह्न है, साहित्य ही ऐसी वस्तु है जिसमें सभ्यता चिरजीवी रखी जा सकती है, साहित्य के द्वारा वह कार्य सम्भव हो सकता है जो बड़े-बड़े आन्दोलनों और विप्लवों से असम्भव रहा है, तो हमें इसमें संदेह करने का अवकाश नहीं है कि लिखना हमारे लिए अनावश्यक नहीं वरन् यह हमारे शिक्षित समुदाय का कर्तव्य होना चाहिए। यदि हमें देश की दशा सुधारनी है तो नित्य उसकी शिक्षा का उपाय करना हमारा प्रथम कर्तव्य है। साहित्य के द्वारा आप उन लोगों के हृदय में भी ऐसा घर कर सकते हैं जिनकी छाया तक देखने का आपको सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। इसी के द्वारा आप अमीरों को, उनके शिकार—निर्धनों की फ़रियाद सुना करते हैं, इसी के द्वारा आप पापी को उसके पाप का अनुभव करा सकते हैं, इसी की सहायता से आप भूले हुए व्यक्तियों को राह पर लगा सकते हैं। सोते को जगाना, साहित्य द्वारा संभव हो सकता है, रोते को हँसाना, लेखक का काम है। सारांश यह है कि साहित्य ही द्वारा वे सभी बातें संभव हो सकती हैं जो अन्य साधनों से नहीं प्राप्त हो सकतीं। यदि हृदय की बात हृदय न समझ सका—उसे समझा न सका—तो संसार में कोई

अन्य साधन इसे न कर सकेगा। अतः, ऐसी दशा में हमारा कर्तव्य लिखना और लिखते रहना तथा लेखकों को प्रोत्साहन देना हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि हम कुछ न लिख कर चुप हो जायँ तो क्या हानि है? यह प्रश्न उनके लिए नहीं है जो किसी बात का अनुभव नहीं करते अथवा किसी के प्रति राग या द्वेष का भाव जिनके मन में नहीं होता। परन्तु जो अनुभूति-शक्ति-सम्पन्न हैं—विचारशील हैं—सोचते हैं, समझते हैं—जिन्हें संसार में न्याय और अन्याय, पाप और पुण्य, धर्म-अधर्म, सुखी और दुखी, पीड़क और पीड़ित, सबल और निर्बल, शासक और शासित का भेद-भाव समझ में आता है, वे अपने विचारों को यदि न प्रकट करें तो वे फिर क्या करेंगे? उनके रहने या अनुभव से संसार को लाभ? अथवा, क्या आप समझते हैं कि चुप रहकर वे अपना भी कुछ स्वार्थ साध सकते हैं? और क्या ऐसा व्यक्ति चुप रह सकता है, जो सोचता है, समझ सकता है, अच्छे-बुरे की पहचान कर सकता है? विश्वास रखिए, वह चुप नहीं रहेगा। अपनी विवेक शक्ति और विचार-धारा की प्रबलता के अनुसार ही वह अपने विचारों के लिए मर मिटने को तैयार होगा, परन्तु वह चुप नहीं रह सकता। आत्मा की अन्तर्प्रेरणा के विरुद्ध क्या कोई आचरण करने की क्षमता रख सकता है? यदि अपने विचारों को लोग दबा सकते तो आज हम किसे

कृष्ण, किसे गौतम, किसे बुद्ध, शंकर, दयानन्द और गाँधी कह कर पुकारते !

समाज की धमनियों में समय-समय पर रक्त का संचार उन्हीं महापुरुषों ने किया है जो अपने विचारों को गुप्त न रख सके थे—जिनकी अनुभूति-शक्ति ने उन्हें मुँह खोल कर अपने विचारों को चिल्लाकर संसार के सोते हुए कानों में डालने पर विवश किया था। इसलिए समाज में रहते हुए, किंवा समाज से संपर्क रखते हुए, यदि हमारे सामने चुप रहने का प्रश्न आवे तो हम उसे उसी भाँति समझते हैं जैसे कोई हमसे जीवित रहते सदा नींद में पड़े रहने का प्रस्ताव करे ! यदि जीवन में आँखें मूँदे केवल श्वास-निक्षेप करने में हमें संतोष हो सके तो निश्चय हम समाज में रहकर चुप रहने के प्रस्ताव का कुछ अर्थ समझ सकते हैं—नहीं तो, चुप रहना, हम मृत्यु का लक्षण समझेंगे—जीवन के लक्षणों का उपहास समझेंगे। और क्या आप हमारे इस विचार से सहमत नहीं हैं ? यदि हैं तो हमारा कर्त्तव्य क्या है ? कर्त्तव्य तो क्षण भर में निश्चित हो जाता है, परन्तु लेखनी हाथ में लेते ही सामने वही पुराना प्रश्न उठ खड़ा होता है—'हम किस पर लिखें ?'

हम किस पर लिखें ? इस पर विचार करते समय यह कभी न भूलिए कि आप उस देश के निवासी, उस देश के रहनेवाले हैं, जो कभी संसार को अपना संदेश सुना चुका है—जिसने कभी साम्राज्य का सुख भोगा है—जिसने

मानव-जीवन और जीवन की पहेलियों को सुगमता से सुलझाया था --जिसने भली भाँति समझा था परमात्मा के विश्व-विधान का रहस्य। परन्तु, इसी के साथ यह भी न भूलिए कि वही देश इस समय अपना घर खो बैठा है, अपने को भूल बैठा है। यह न भूलिए कि उसी स्वनामधन्य देश के निवासी इस समय घोर दरिद्रता और दीनता के शिकार हो रहे हैं। यह न भूलिए कि हमारे देश के अधिकांश निवासी मुश्किल में अपना तन ढँक पाते हैं--अपना उदर भर पाते हैं। वे अपनी संतानों और स्त्रियों का मनुष्योचित पालन करने में असमर्थ हो रहे हैं। उन्हें न भूल जाइए, जिनका भविष्य आपके हाथों में है, जिन्हें मनुष्य बनाना, जिनकी मनुष्यता की व्याख्या करना आप पर निर्भर है। ऐसी दशा में, 'हम किस पर लिखें ?'—यह प्रश्न अधिक उलझन में नहीं डालता। यदि कुछ भी संदेह रह गया हो तो क्षण भर इस पर विचार कर लीजिए कि हमारे लेखों से किसे और कैसे लाभ पहुँच सकता है।

अपने देश की दुर्दशा नित्य आँखों के सामने होते हुए यदि हम अपनी उदारता का दुरुपयोग कर 'विश्व' लिए विश्व साहित्य की रचना करने बैठें तो यह बात हमें वैसी ही प्रतीत होती है जैसे घर में कोहराम मचे रहते कोई भावुक अपने कक्ष में बैठा 'विश्व-शान्ति' का स्वप्न देख रहा हो ! इसे प्रवंचना, आत्मविस्मृति और अपने को भुलावे में रखना कहेंगे ! इसे कहते हैं छोटे मुँह बड़ी

बात— झोपड़ी में रहकर महलों का स्वप्न देखना—भूमि पर रहकर बादल चाटने का प्रयत्न करना ! हमें—हम लेखकों को—सर्व-प्रथम आवश्यकता है विवेक से काम लेने की, निष्प्रभाव होकर खुली आँखों से वस्तुओं की यथार्थता पहचानने की। इसके बाद हमें आवश्यकता है उन्हें मनन करने की, उनके भीतर डूबकर, उनके हृदय तक पहुँच कर उनका दुःख-सुख सुनने की। तभी हम ऐसे साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं, जिसे हम अपना साहित्य कह सकते हैं, और वही हमारे इस प्रश्न का उत्तर होगा, 'हम किस पर लिखें ?'

लेखक के लिए कोई विशेष-शैली निश्चित नहीं की जा सकती—उसके लिए वस्तुओं की गिनती नहीं गिनाई जा सकती कि, इस भाँति लिखो—और इन पर लिखो। लेखक और भावुक कलाकार सभी वस्तुओं पर लिख सकता है। साधारण-से साधारण और प्रचलित-से-प्रचलित 'वस्तु' पर वह लिख सकता है—पर उसकी आत्मा, उसकी भावुकता, उसकी मौलिकता, उसकी लेखन कला, उसकी भाषा, शैली, उन्हीं नित्यप्रति देखने में आनेवाली वस्तुओं में ऐसी रागिनी भर देगी जिसे सुनकर आज ही नहीं, भविष्य में भी लोग मुग्ध हो सकते हैं। यदि ऐसी रचना मानव समाज का कल्याणकर सके तो इसमें आश्चर्य की बात न समझिए। इसका रहस्य है उस कलाकार के हृदय में, जो उस विषय पर लिखते समय उसे सहानुभूति की सरस

भावना से देख सका था, जिसके हृदय की आर्द्रता ने उन नीरस विषयों में सरसता उत्पन्न कर दी थी, जिसकी भावुक आत्मा ने उन निर्जीव पदार्थों में जीवन की ज्योति देखी थी। अतः, हमारे लिए विषयों का निर्धारण नहीं हो सकता और कोई, हमें विशेष शैली, भाषा या लेखन-पद्धति का अनुसरण करने की सलाह दे सकने की क्षमता भी नहीं रखता। हाँ, यदि हमें अपने कर्तव्य के प्रति कोई सावधान करा दे तो हमें उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

हमारे आस-पास, हमारे सामने हमारा पराधीन देश है, उसके दीन-दुखी दलित निवासी हैं। हमारे सामने, हमारे समाज की जीर्ण-शीर्ण दशा है, रूढियों और अंधविश्वासों पर जीवित 'धर्म' नाम से कहलानेवाली एक निराकार संस्था है—जो हमें नहीं चलाती, वरन् जिसे हम जीवित रख रहे हैं। हमारे सामने 'ईश्वर' नाम के अज्ञातकुलशील किसी प्राचीन वस्तु की कल्पना है, जिसका हम केवल विश्वास के रूप में निर्वाह कर रहे हैं। हमारे सामने हमारा दलित, अनादृत मातृ-मण्डल है, जिसकी नगण्यता भी नगण्य होती जा रही है। हमारे सामने हम स्वयं हैं, जो अपनी आँखों से वस्तुओं की जाँच न कर, केवल धर्म, समाज और विश्वास की फूटी आँखों के भरोसे अपने विचार स्थिर करते हैं। हमें पहले अपने को देखना है।

हम कैसे लिखें ? क्यों ? हमें कौन रोकता है ? परन्तु,

हमारे लिखने का कुछ उद्देश्य होना चाहिए। यथार्थवाद (Realism) के नाम पर यदि हम कुरीतियों, कामुकता और हेय वस्तुओं आदि का नग्न-नृत्य शिष्ट समाज के सम्मुख करवाने पर तुल जायँगे तो निश्चय ही हमारे आचरण की लोग आलोचना करेंगे। काव्य और भावुकता के नाम पर यदि हम स्वयं भूखों मरते हुए, भूखों से भरे हुए देश में, 'उस लोक' की रागिनी छेड़ेंगे, तो निश्चय हमें लोग पागल कहने पर विवश होंगे। कहानी के नाम पर यदि हम आज, उस शृंगारिक युग की लालसाएँ पुनर्जीवित करेंगे तो क्या हम अपनी कला को सार्थकता प्रमाणित कर सकते हैं ? प्रत्येक देश में, प्रत्येक युग में साहित्य का निर्माण उसकी आवश्यकताओं के अनुसार हुआ है। यदि 'सूखा' के दिनों में कोई 'मलार' अलापने बैठेगा तो उसे कोई क्या कहेगा ! हमें यदि अपनी लेखनी का उपहास नहीं कराना है, यदि हम चाहते हैं कि उसकी तारीफ़ न हो—पर कम-से-कम उस पर लोग लानत न फेकें—तो निश्चय ही, हमें यह प्रश्न न भूलना चाहिए कि हमारी रचनाएँ हमारी परिस्थिति के अनुकूल हैं वा नहीं। कला की आड़ में अपनी लालसा की तृप्ति अच्छी नहीं।

हम किस पर लिखें ? अब इस प्रश्न पर विचार करने में अधिक कठिनाई नहीं रह जाती। परन्तु, इस प्रश्न का उत्तर एक नहीं और न कोई एक व्यक्ति उसे दे सकता है। लिखते समय हमें यह प्रश्न सदा सामने रखना चाहिए

और अपने विचारों को लिपिबद्ध करते समय इस पर भली भाँति विचार कर लेना चाहिए कि, 'हम किस पर लिखें ?'

## ३—कविचर्या और लेखकचर्या

देश जब पराधीन हो जाता है, समाज जब अधोगति को प्राप्त होता है, शिक्षा और संस्कार का अभाव हो जाता है, तो हम अपने को भूलकर, अपने पौरुष और शक्ति को अन्तर्ध्यान कर, अपने सारे काम भाग्य और ईश्वर के भरोसे छोड़ देते हैं। आज यदि हम कवियों और लेखकों की शिक्षा का प्रश्न उठावें तो लोग इस विचार की हँसी उड़ाने लगेंगे। परन्तु जो देश जीवित है, जिसने अपनी आत्मा को भुला नहीं दिया है, वह अपने समस्त व्यापारों की ओर वैज्ञानिक दृष्टि से दृष्टिपात करता है। वहाँ की समस्त सफलता ईश्वरदत्त नहीं वरन् मनुष्य-अर्जित समझी जाती है। जिन्हें सफलता मिली है, वे उसकी कुँजी भी जानते है। वहाँ प्रतिभा और ईश्वरीय देन के आसरे सब कुछ छोड़ नहीं दिया जाता।

अभी उस दिन मिस्टर गुडइयर लिखित "मनी मेकिंग आथरशिप्" पढ़ते हुए हमारी दृष्टि 'दी राइटर्स ब्रेनबुक' नामक अध्याय पर पड़ी। उसे पढ़कर हमारा ध्यान तुरं

राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' के 'कविचर्या' नामक दसवें अध्याय की ओर चला गया। दोनों में कितना साम्य है। यद्यपि समय और परिस्थिति का महान अन्तर है, फिर भी दोनों का उद्देश्य एक है। दोनों एक ऐसे रहस्य पर प्रकाश डालते हैं जिसे जानकर लोग कवि और लेखक बन सकते हैं।

काव्यमीमांसाकार लिखता है, 'काव्य रचने के पहले कवि को उपयोगी विद्या और उपविद्याओं को पढ़ना चाहिए। विद्याएँ—नाम, धातु परायण, कोष, छंदशास्त्र और अलंकार-शास्त्र हैं। उपविद्याओं में चौंसठ कलाएँ आती हैं। इनके अतिरिक्त कवि को अच्छे कवियों के पास बैठना ( सन्निध ); देश वार्ता का ज्ञान, चतुर लोगों के साथ बात-चीत ( विदग्धवाद ) लोकव्यवहार का ज्ञान, विद्वानों की गोष्ठी और प्राचीन काव्य आदि का अभ्यास होना चाहिए। स्वस्थ शरीर, तीव्र प्रतिभा, देवता और गुरु की भक्ति, विद्वानों के साथ वार्तालाप का अभ्यास, बहुश्रुतता ( विस्तृत ज्ञान, General knowledge ) प्रबल स्मरण-शक्ति, अनिर्वेद ( प्रसन्नचित्त रहना ) आदि भी कवि के लिए आवश्यक हैं।

'कवि को अपने मन, वाणी और शरीर को शुद्ध रखना चाहिए। बातें गम्भीर अर्थवाली कहे। सर्वत्र, रहस्य ( असल तत्व ) का अन्वेषण करता रहे। कवि का घर साफ़-सुथरा और आरामदेह होना चाहिए। काव्य रचना

से थक जाने पर मन की ग्लानि दूर करने के लिए मूक-सेवकों ( चुप रहने वाले ) सहित निर्जन स्थान में रहना चाहिए। उसके पास लिखने-पढ़ने का सब सामान ठिकाने का, साफ़-सुथरा होना चाहिए, आदि आदि।'

कवियों के लिए राजशेखर ने कई नियम बताये हैं। 'जब तक काव्य पूरा न हुआ हो, किसी के सामने उसे नहीं पढ़ना चाहिए। किसी आदमी के सामने अपना नया काव्य न पढ़ना, जिससे ऐसा न हो कि वह उसके काव्य को अपना बैठे और उसके पास सफ़ाई के लिए कोई गवाह न रहे। अपने काव्य को अपने ही मन से उत्तम न समझना चाहिए और न उसकी डींग ही कहीं हाँकनी चाहिए। अहंकार संस्कारों को नष्ट करता है। अपनी रचना को दूसरों से जँचवाना उचित है।'

कवि के लिए दिनचर्या भी राजशेखर ने लिखी है, जैसे कब उठना, कब नहाना, कब खाना, कब सोना, इत्यादि। राजशेखर लिखते हैं—'रस के आवेश ( Inspiration ) में जो काव्य रचा जाता है, उसको उसी समय दुहराने से उसका गुण-दोष नहीं प्रकट होता है। इसलिए उसे कुछ समय बाद दुहराकर उसमें उचित संशोधन करना चाहिए। रचना करने के पश्चात् तुरन्त ही उसकी परीक्षा करने से हम उसके गुण-दोष को नहीं देख पाते। जब रचना तैयार हो जाय तब उसकी कई प्रतियाँ करा लेनी चाहिए। 'अभी रहने दें फिर से उसे शुद्ध करूँगा', आदि बातें यदि

कवि में रहीं तो उससे उसकी रचना को हानि पहुँच सकती है। पुरुषों की भांति स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। कारण स्पष्ट है। बुद्धि, मन, आदि का संस्कार आत्मा में होता है। और आत्मा में पुरुष और स्त्री का भेद नहीं होता।'

मिस्टर गुडइयर आधुनिक युग के पत्रकार हैं। लेखन-कला के पारखी और विशारद हैं। आप लिखते हैं—'मस्तिष्क कैसे चालू किया जाय? यह परेशानी सब लेखकों को रहती है। लोग कहते हैं—पेट भर दो, काम ले लो। क्या लेखक भर पेट खा लेने से अपने मस्तिष्क से काम ले सकता है? जिस समय लेखकों के विचार मट्ठर बन जाते हैं, उस समय उन्हें उसकाने के लिए किसी न किसी साधन का आश्रय लेना पड़ता है। कहते हैं कि डा० जानसन को जब शब्दों की कमी होती थी तो वे चाय पीने लगते थे और उनकी लेखनी वाचाल हो जाती थी। एक प्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक मस्तिष्क की इस उदासीनता के अवसर पर मदिरा का आश्रय लिया करता था। इस प्रकार अनेक मादक द्रव्यों का सेवन कर कवि और लेखक अपने सोते हुए मस्तिष्क को जगाया करते हैं। परन्तु, क्या ऐसा करना वास्तव में सिद्धि-दायक है? यह प्रश्न विचारणीय है। कुछ लोग सिनेमा देखकर—तमाशा देखकर भी, अपने विचारों को जगाया करते हैं। परन्तु ये सब व्यर्थ की बातें हैं। साहित्यिक कार्य करने के लिए, मस्तिष्क को तैयार करने के लिए, शरीर को स्वस्थ रखने की सब से बड़ी आवश्यकता

है। लेखक को सब से पहले अपने भोजन पर नियन्त्रण रखना चाहिए। मानसिक परिश्रम करनेवालों या बैठकर काम करनेवालों की पाचन-क्रिया यों ही मन्द रहती है। उन्हें जहाँ तक हो, सादा. हलका, पुष्टिकारक और थोड़ा भोजन करना चाहिए। मिस्टर गुडइयर कहते हैं, "The lighter the burden your stomach must carry the brighter and clearer your brain."—अर्थात् जितना हलका आपका पेट रहेगा उतना ही तेज़ और सुलझा हुआ आपका मस्तिष्क होगा। भर पेट भोजन कर, अलसाये हुए शरीर से, किसी नवीन सुन्दर रचना की सृष्टि असम्भव है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम उपवास ही करते रहें।

'मस्तिष्क को स्फूर्ति देने के लिए दूसरा उपाय है— सैर-सपाटा। जब हम अपने परिचित, नित्य के वातावरण को छोड़कर एक सर्वथा नवीन वातावरण में पहुँचते हैं तब हमारी चेतना-शक्ति सजीव हो उठती है और उसकी सजीवता का कारण होता है दोनों परिस्थितियों का विरोधी अन्तर, जिनका प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है। एक ही परिस्थिति में रहते-रहते हमारी इन्द्रियाँ अपने व्यापार के प्रति उदासीन हो जाती हैं और उनकी अनुभवशक्ति मन्द और शिथिल पड़ जाती है। इसी से लेखक के लिए पर्यटन बहुत उपयोगी होता है। परन्तु इसके लिए लेखक को इसके प्रति सावधान होना भी आवश्यक है कि वह यह

न भूल जाय कि वह लेखक है और उसे नये-नये विचारों और वस्तुओं का बराबर संचय करते रहना है। यदि ऐसा होगा तो जहाँ आप जायँगे आपको अपनी कहानी, कविता, लेख और प्रहसन के लिए नये-नये, और मौलिक विचार मिलते रहेंगे। बस, केवल इतना मात्र स्मरण रखना चाहिए कि आप निकले हैं तो किसी उद्देश्य से—अपने व्यसन को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं।'

लेखकों का जीवन आशा और निराशा के बीच झूलता ही रहता है। यदि कभी निराशा भी हो तो उन्हें भी अपने व्यवसाय के प्रति निराश वा उदासीन न होना चाहिए। यह तो रोज़गार है—कभी घाटा है, कभी मुनाफ़ा। और रोज़गार तो सभी समान हैं। कोई ऐसा नहीं जिसमें बराबर मुनाफ़ा ही होता जाय। यदि आपकी रचना दुर्भाग्य से अस्वीकृत हो गयी, पुस्तक की प्रतिलिपि प्रकाशक ने लौटा दी, तो आप लेखन-व्यापार को कोसने न लग जायँ—और न लेख स्वीकृत होने और पुस्तक प्रकाशित होने पर अपने को लेखक-सम्राट वा अमुक सम्राट समझकर परिश्रम करना ही छोड़ दें। यह व्यवसाय है। इसमें निरन्तर—और तन्मय होकर—परिश्रम करने की आवश्यकता है। इसमें सफलता नियत नहीं, वरन् एक शृङ्खला है जिसे बराबर अविच्छिन्न रखना होता है।

प्रश्न होता है कि लेखन-व्यवसाय क्या संसार का सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय है? मिस्टर गुडइयर इस पर एक

कहानी सुनाते हैं। इससे इस प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कहानी मनोरंजक और उपदेशप्रद है। सुनिये।

किसी लेखक ने संपादक के पास प्रकाशनार्थ कहानी भेजी। वह लौट आई। सम्पादक ने लिखा, 'कथानक अच्छा है, शैली तनिक अपरिपक्व है, अभ्यास कीजिए।' लेखक ने फिर लिखना ही छोड़ दिया। क्रोध और निराशा में उसने अपनी रचना फाड़ डाली और चाय की दूकान कर ली। अपनी अभिलाषा की कली को रौंदकर उसने धनोपार्जन किया। बहुत बड़ा आदमी हो गया। शरीर और धन से मोटा होकर मर गया। उसकी आत्मा का मूक गान उसी के साथ दफ़न हो गया। उसने लाखों की सम्पत्ति छोड़ी, जिस पर उसके स्वार्थी सम्बन्धी, कुत्तों की भाँति लड़ने लगे। उसका एक साथी उसी की भाँति लेखक बनने का अभिलाषी था। अनेक बार उसकी रचनाएँ अस्वीकृत हुईं—लौट आयीं। पर वह हताश न हुआ। उसे मुश्किल से पेट भर भोजन मिलता था, पर उसका मस्तिष्क अग्नि की भाँति प्रज्वलित था। उसने एक पुस्तक लिखी। एक गुणग्राहक प्रकाशक ने उसे पचास रुपये देकर छापने की इच्छा प्रगट की। लेखक ने सहर्ष स्वागत किया। पुस्तक प्रकाशित हुई—सर्वप्रिय हुई। प्रकाशक मालामाल हो गया। लेखक को केवल ५०) मिले और साथ में कीर्ति, जिसका कोई मूल्य नहीं! वह अमूल्य थी!

किसी ने पत्र लिखा। उस पर पता था—

सेवा में,

लेखक अमुक पुस्तक, इङ्गलैंड।

पत्र, डाक विभाग ने लेखक के घर पहुँचा दिया। उस पत्र में पत्र-दाता ने भारत से लिखा था, 'ईश्वर आपको दीर्घायु करे। आप की पुस्तक ने हमारे हृदय को बहुत शान्ति पहुँचाई है।'

गरीब लेखक मर गया—गरीबी में। उसने कठिनाई से इतना धन छोड़ा कि उसका अन्तिम संस्कार हो सके। पर सोचने का विषय है कि, किसका जीवन सफल हुआ? ग़रीब लेखक का, या उसके धनी साथी का?

कुछ लेखकों का मस्तिष्क किसी विशेष समय तीव्रता से काम करता है। कोई टहलते समय अच्छे-अच्छे कथानकों की कल्पना कर सकता है। मिस्टर पी० जी० उड-हाउस, अमेरिका के प्रसिद्ध हास्यरस-लेखक, अपने कथानकों की सृष्टि टहलते समय करते हैं। इसी तरह किसी को नये विचार, पुस्तक पढ़ते समय सूझते हैं, किसी को एकान्त में सरिता के कूल पर बैठकर, किसी को रेल में सफर करते समय, किसी को किसी, किसी को किसी अवसर पर। ऐसे सब अवसरों पर यदि पास में नोट-बुक रहे तो लेखक उन विचारों को नोट कर सकता है और आगे चलकर उनसे लाभ उठा सकता है। ऐसे अवसरों पर नोट-बुक में उन विचारों को टाँक लेने में यदि लेखक आलस्य न करे तो कोई अन्य अड़चन नहीं। परन्तु

यदि रात को सोते समय मस्तिष्क में कोई नया विचार आवे तो उस समय वह क्या करे ?—जब कि न तो कमरे में रोशनी है, न पास में नोट-बुक ! और रात में, बिस्तर पर जाते ही, अर्द्ध निशा में आँख खुलने पर, कभी-कभी प्रातः अर्द्ध निद्रावस्था में विचार उठते हैं—और बहुत से लेखकों को उठते हैं—कभी-कभी बहुत ही उत्तम और मौलिक विचार उठते हैं। ऐसी अवस्था में कितने लेखक केवल आलस्यवश उन्हें खो देते हैं।

मिस्टर गुडइयर इन विचारों को लिपिबद्ध करने का एक बहुत सुगम उपाय बतलाते हैं। आप कहते हैं, 'एक दफ़्ती बनाइए जिस पर सफेद काग़ज़ चिपका हो। एक पेंसिल के साथ दोनों को अपने बिस्तर पर तकिये के नीचे रख लीजिए। जब विचार उठें, चाहे रोशनी हो या न हो, आप विचारों को उस काग़ज़ पर लिख सकते हैं। शायद ही कोई ऐसा हो जो अँधेरे में आँख मूँदकर दो-चार लाइन न लिख सके। प्रातःकाल उन विचारों पर पुनः, विचार कर, उन्हें नोट-बुक में टाँक लिया जा सकता है और उनसे लाभ उठाया जा सकता है।'

लेखन-व्यवसाय की उत्तमता के विषय में प्रसिद्ध उपन्यासकार मिस्टर क्विलर कूच (Quiler Couch) कहते हैं—'हमारा व्यवसाय हमें, किसी आफ़िस की कुर्सी तोड़ने, किसी अफ़सर से हाथ मिलाने, आत्मा के विरुद्ध आज्ञा-पालन के लिए—बाध्य नहीं करता। यह मुझे नगर के

जीवन से मुक्त करता है, जिससे मैं घृणा करता हूँ। मैं देहात की स्वच्छ वायु का सेवन, शरीर और मस्तिष्क का परिचालन करता हुआ, प्रकृति का आनन्द लेता हूँ, जो संसार के सब सुखों से श्रेष्ठ है। प्रत्येक आनन्द का मूल्य चुकाना पड़ता है—और इस आनन्द का मूल्य यही है कि मनुष्य धनराशि का दर्शन नहीं कर पाता। यह मेरे लिए असम्भव ही सा था, अतः मैं इस पर दुखी नहीं हूँ कि मैंने मुफ़्त में आनन्द प्राप्त किया।'

नौकरी-पेशावाले बीमार पड़ने पर, न मन लगने पर, दो-चार दिन का विश्राम ले सकते हैं। उन्हें छुट्टी मिल सकती है। वे फिर स्वस्थ होकर, ताज़ा होकर, अपने काम में लग जाते हैं। परन्तु यदि लेखक का मस्तिष्क काम न कर सके, थक जाय, तो उसके लिए क्या दवा है? मिस्टर गुडइयर कहते हैं कि लेखक बिस्तर पर करवटें बदलकर मस्तिष्क को ताज़ा नहीं कर सकता। इसकी एक मात्र दवा है—वातावरण-परिवर्तन।

जो लेखक बाहर सैर-सपाटा करता रहता है, जो हर परिस्थिति में अपने मस्तिष्क से काम लेता रहता है, उसके विचार कभी थकते नहीं, सोते नहीं, बेकार नहीं होते; और इसीलिए उसे विश्राम के लिए अवकाश की आवश्यकता भी नहीं पड़ती है। लिखने में जी न लगता हो, छड़ी उठाकर टहलने चल दीजिए--विचार उठने लगेंगे, मस्तिष्क ताज़ा हो उठेगा। प्रश्न होता है इससे रचना

कैसे बन जायगी—पाण्डुलिपि कैसे तैयार हो जायगी ? मिस्टर गुडइयर कहते हैं, 'प्रत्येक परिस्थिति में सोचने का अभ्यास करना चाहिए—मन में, रचना को लिपिबद्ध करने का अभ्यास करना चाहिए। आप जेब में पड़ी हुई नोट-बुक में उनकी तरतीब नोट कर सकते हैं, अभ्यास से आप वाक्य-के-वाक्य, पैरा-के-पैरा याद कर सकते हैं। मस्तिष्क को जगाने के लिए केवल विचार-विन्दु ही यथेष्ट होते हैं।'

## ४—जब हम लिखने बैठें !

एकांत स्थान में, शान्तिमय वातावरण की सुखमय छाया में लेखन-सामग्री प्रस्तुत कर जब आप अपने मस्तिष्क में विद्रोह मचाते हुए विचारों को लिपि-बद्ध करने की इच्छा से बैठते हैं, उस समय क्या कभी आपने क्षण भर इस पर ध्यान दिया है कि आप क्या करने जा रहे हैं—और आपको क्या करना चाहिए ? यदि नहीं, तो आइए आज हम इसका निपटारा कर लें।

हम लेखक हैं—हमारा व्यवसाय लिखना है। संसार में हमारे पास केवल एक ही साधन है जिसकी सहायता से हम अपनी जीवन-यात्रा में सफल-मनोरथ होना चाहते हैं—और वह साधन कोई बहुत बड़ी वस्तु नहीं, साधारण और छोटी-सी लेखनी मात्र है। परन्तु, यह वह अस्त्र है

जिसका प्रभाव अतुलनीय है। यदि संसार का शासन शस्त्रों से होता आया है तो लेखनी, वह अस्त्र है जो शस्त्रों पर भी शासन कर सकती है। इस महान् अस्त्र के वहन करनेवाले हम लेखकगण ही हैं। ऐसी दशा में हमें इस अस्त्र से काम लेने के पूर्व अपने उत्तरदायित्व और लक्ष्य का पूर्ण ज्ञान कर लेना परमावश्यक है।

हम भारतीय लेखक एक ऐसे देश के निवासी हैं जो पराधीन है, सदियों से जिसने स्वाधीनता की झलक नहीं देखी। हम इस पराधीनता के अंधकार में इतने दिनों से रह रहे हैं कि हममें अपने को पहचानने का ज्ञान मात्र भी नहीं रहा। हम अपनी आत्मा को भूले हुए हैं। हम इतना तक भूल गये हैं कि स्वाधीनता की रूपरेखा क्या है, हम उस प्रकाश की कल्पना नहीं कर पाते जिसकी एक किरण हम में जान फूंक सकती है—हमें रास्ते लगाकर, पराधीनता की तिमिरपुञ्ज बेड़ियाँ काटकर, हम में आत्म-विश्वास भरकर हमें जीवन के सच्चे सुख और लक्ष्य को दिखला सकती है। हमारे सामने पहला और तत्कालीन सब से महत्व का प्रश्न अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त करने की बात है। ऐसी दशा में देश के हर एक निवासी का एकमात्र लक्ष्य यही होना चाहिए।

हम लिखने बैठते हैं। हमारी रचनाओं से दूसरे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु, यह तभी होगा जब हम लिखते समय इस बात का ध्यान रखें कि हम किस के लिए लिख

रहे हैं। लेखक और पाठक का वही संबंध है जो वक्ता और श्रोता का है। कुछ लिखने के पहले अपने पाठकों का स्मरण कर लेना परम आवश्यक है। हिन्दी-जगत में पाठकों के वर्गीकरण पर अभी किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। सभी न शिक्षित है और न सभी एक श्रेणी के पाठक कहे जा सकते हैं। लिखने के पूर्व यह निश्चय कर लीजिए कि आपकी रचना किस वर्ग के लिए लिखी जा रही है। साधारणतः हम पाठकों के दो विभाग कर सकते हैं। एक साहित्यिक और दूसरा असाहित्यिक।

साहित्यिक पाठक साहित्य से परिचित होता है। उस की शिक्षा-दीक्षा ऐसी होती है कि वह साहित्य के परंपरा-गत नियमों और पद्धतियों से परिचित होता है। उसका ध्येय, पढ़कर मनोरञ्जन करना होता है। वह साहित्य को 'साधन' न समझ कर 'सिद्धि' समझता है। ऐसे पाठकों को आप कोई भी वस्तु दे सकते हैं। उनका मस्तिष्क साहित्यिक आनन्द का अनुभव करने योग्य है। वह केवल साहित्यिक आनन्द का अभिलाषी है। परन्तु, ऐसे पाठकों की संख्या हिन्दी में अधिक नहीं, और न उनके योग्य रचनाओं की सृष्टि करने की क्षमता रखनेवाले हिन्दी लेखकों की संख्या ही अधिक है। कलाकार होना उतना आसान नहीं— और न प्रत्येक लेखक कलाकार होने का स्वप्न देख सकता है।

दूसरे वर्ग के पाठक केवल पढ़े-लिखे हैं। उनमें

साहित्य की कल्पना नहीं। वे पढ़ने के शौक़ीन हैं—साधारण रीति से पढ़ सकते हैं—अपनी भाषा में लिखी वस्तु समझ सकते हैं। उन्हें ज्ञान की जिज्ञासा है—मनोरञ्जन करते हुए, अपनी जीवन-यात्रा के हेतु उपयोगी ज्ञान के अर्जन की तृष्णा है। ऐसे पाठकों की संख्या अधिक है। ऐसे पाठकों के ही भरोसे लेखक अपना व्यापार चला सकता है। ऐसे पाठकों को 'कला' और 'साहित्य' की खोज नहीं। वे उपयोगी ज्ञान चाहते हैं—ऐसा मनोरंजन चाहते हैं जो उनके जीवन को सुखमय बना सके। पढ़ना-लिखना उनके मस्तिष्क का भोजन है, उनकी आत्मा की संजीवनी नहीं।

असाहित्यिक पाठकों की कई श्रेणियाँ करनी होंगी। इनमें सभी तरह की योग्यता और क्षमता के लोग होंगे। इस श्रेणी में सर्वप्रथम बालक-बालिकाएँ आती हैं, फिर नवयुवक और नवयुवतियाँ आती हैं। इस श्रेणी में हमारी महिलाएँ और ग्रहस्थ लोग हैं। पौर-जानपद की दृष्टि से, एक ओर शहरों में रहनेवाले बच्चे, लड़के लड़कियाँ और स्त्री-पुरुष हैं, दूसरी ओर देहातों में रहनेवाली पढ़-लिख सकनेवाली ग्रामीण जनता है। दोनों की आवश्यकताओं में महान् अन्तर है। शहरों में रहनेवाले पाठकों की जानकारी, और साहित्यिक रुचि ग्रामीण पाठकों से बढ़-चढ़ कर है।

इन समस्त बातों को सामने रखकर हमें यह निश्चय

करना होगा कि प्रत्येक श्रेणी और वर्ग के पाठकों के लिए लिखते समय हमारी रचनाओं का विषय क्या हो, उसकी भाषा और प्रकाशन-शैली क्या हो ? शहरों में रहनेवाले पाठक हिन्दी के साहित्यिक रूप से अपरिचित नहीं, परन्तु गाँव के रहनेवाले पाठकों के लिए हिन्दी का यह हिन्दी-पन, अधिक प्रिय भी नहीं। कभी-कभी तो यह उन्हें पढ़ने लिखने में यथेष्ट बाधा उपस्थित करता है। रही विषयों के चुनाव की बात। हमारी समझ में अभी हमारे रहन-सहन, आचार-विचार में उतनी विभिन्नता नहीं आ पायी है कि हमारे शहर और गाँव के जीवन में बहुत अन्तर हो गया हो। इसलिए, विषयों की समस्या सुलझाने के लिए केवल थोड़ी-सी कल्पना ही की अवश्यकता है। देहात की कुछ अपनी समस्याएँ अवश्य हैं, जिनकी कल्पना लेखक चाहे तो सुगमता से कर सकता है।

हाँ, एक बात सब से आवश्यक यह है कि हम चाहे जिस श्रेणी के असाहित्यिक पाठकों के लिए लिखें परन्तु हमें अपना दृष्टि-कोण पहले से स्थिर करना होगा। संसार में 'वस्तुओं' की कमी नहीं। परन्तु उनका संपर्क हमारे जीवन से कितना और किस मात्रा में होता है— यही निश्चय करना आवश्यक है। यदि लेखक यह रहस्य समझ सका तो उसे पाठकों की कमी नहीं, वह जो लिखेगा उसे पढ़नेवालों की कमी न रहेगी। परन्तु इस हेतु हमें यह पहले निश्चय करना होगा कि हम लेखनी

उठाते हैं तो किस हेतु, और किसी वस्तु विशेष पर अपने विचार प्रकट करते हैं तो, किस उद्देश्य से। हमारी समस्त रचनाओं का एक उपयोगी लक्ष्य होना चाहिए। यदि लिखते हैं तो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए। हमारा सर्वप्रथम उद्देश्य है उपयोगी ज्ञान का प्रचार। हमारी रचनाओं द्वारा हमारे पाठक अपनी जीवन-यात्रा के हेतु उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर सकें, अपने जीवन की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हों– यही हमारी रचनाओं की सफलता है, हमारे लेखन-व्यवसाय की सिद्धि है।

हमारी रचनाओं के अनेक रूप होते हैं। हम गद्य में लिखते हैं, पद्य में अपने लिखे विचार प्रकट करते हैं। हम कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, हास्य, व्यंग, संस्मरण आदि अनेकानेक रूप में अपने विचारों को प्रकट करते हैं। ये सब केवल साधन और विधि हैं जिनके द्वारा हम अपने विचारों को फैला सकते हैं। अतएव, हम चाहे जिस साधन का उपयोग करें, चाहे जिस विधि का आश्रय लें, परन्तु हमारे सम्मुख हमारा लक्ष्य स्थिर होना चाहिए। हम चाहते क्या हैं ? हम चाहते हैं—हमारे देश के रहनेवाले अपनी शक्ति को पहचाने। अपनी खोई हुई आत्मा को प्राप्त करें—हम में रूढ़ियों से जकड़ी हुई मन्द तर्कना और विवेक शक्ति पुनः खुलकर काम करने लगे, हम संसार को खुली आंखों देखें—समझें और उसका

उपयोग करें। सदियों की गुलामी ने हमें कुचल डाला है। हम में आत्मविश्वास नहीं। हम भाग्य के भरोसे जीवन का साधारण से साधारण व्यापार छोड़ बैठे हैं। हमारा ईश्वर हमारे टेकने की लकड़ी हो रहा है। हम इस लोक से ऊब कर, आवागमन से मुक्त होकर, न जाने किस लोक में आश्रय पाना चाहते हैं। हम जीवन-संग्राम से सहमकर इस लोक में आने के भय से 'मोक्ष' का सुगम मार्ग ढूँढ़ते फिरते हैं। हमारे लिए इस लोक की सफलता एक दुर्लभ वस्तु हो रही है। हम उसे भाग्य और भविष्य के भरोसे छोड़कर 'त्याग' और 'संतोष' की आड़ में अपना आलस्य और अकर्मण्यता छिपाना चाहते हैं। हम वर्तमान से सन्तुष्ट है—इसलिए नहीं कि हम सुखी हैं, वरन् इस लिए कि हम में असंतुष्ट रहने के हेतु यथेष्ट उद्योग और परिश्रम की क्षमता नहीं है। हम 'भूत' के स्वर्णमय दिनों की स्मृति जगाकर अपने को अभागा और पूर्वजन्म का अपराधी प्रमाणित करना चाहते हैं। हमारे लिए भविष्य नहीं है—बस है—केवल वर्तमान—और सदा एक सा वर्तमान !

ऐसी अवस्था में हम लेखकों का क्या दृष्टि-कोण होना चाहिए ? यह निश्चय करते देर नहीं लगेगी। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी सोचना होगा कि लेखक यदि जल्दी करेगा तो उसका उद्देश्य विफल होगा। सदियों का रोगी यह भारतीय, एक दिन में नहीं उठ खड़ा होने का,

और न ऐसा प्रयत्न उसके लिए दुष्परिणाम की आशंका से मुक्त होगा। शनैः पन्था—वाली नीति का अनुसरण कर, हम लेखकों को धीरे-धीरे अपनी रचनाओं द्वारा जाति को संजीवनी की 'घूँटी' देनी होगी।

हम चाहे जो लिखें, जिसके लिए लिखें, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारी रचना उद्देश्यहीन नहीं होनी चाहिए। चाहे जिस मात्रा में हो—परन्तु हमें अपनी रचना में ऐसी परिस्थिति, ऐसी समस्याएँ, ऐसे व्यंग, ऐसे वाक्य अवश्य रखने चाहिए, जिससे हम अव्यक्त रूप से अपने पाठकों के मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव डाल सकें जो आगे चलकर हमारे राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो—जो भविष्य में पाठकों को स्वतंत्र राष्ट्र के योग्य नागरिक बना सके।

जब हम लिखने बैठें, उस समय हमें अपना उत्तर-दायित्व न भूलना चाहिए। यह न भूलना चाहिए कि हम एक ऐसे अभागे देश के लेखक हैं, जो दलित है, दुखी है पराधीन है। हमारा एक मात्र लक्ष्य पहले उसे स्वतत्रंता के संग्राम के योग्य बनाना है। हम अपने उन पाठकों को न भूलें जो हमारी रचना को पढ़ने के लिए तैयार होंगे। हम अपने बाल-पाठकों के मस्तिष्क के विकास के ज़िम्मे-दार हैं। हमारे ऊपर उनके भावी विकास की ज़िम्मेदारी है। हमारी लेखनी से प्रसूत रचनाएँ हमारी कन्याएँ और महिलाएँ पढ़ेंगी। उन्हें पढ़कर वे भावी पत्नियां

और माताएँ बनेंगी। यदि हम अपने घरों को सुखमय बनाना चाहते हैं तो कुछ लिखने के पूर्व हमें अपने घर की दशा का स्मरण कर लेना चाहिए। हमारे किसानों को—हमारे देश की मूक जनता को वाचाल बनाना, उन्हें ज़बान प्रदान करना, हमारा काम है। यदि हम उन्हें पशु-जीवन से मुक्त कर, स्वाधीनता के संग्राम के योग्य बनाना चाहते हैं तो उनके लिए कुछ लिखने के पहले क्षण भर हमें उनकी दशा की कल्पना कर लेनी चाहिए। वे साहित्य और कलात्मक रचनाओं के भूखे नहीं हैं। उनके सम्मुख रोटी और जीवन-मरण का प्रश्न सर्वप्रधान है। अब क्या हम केवल स्वांतःसुखाय लिखने के लिए लेखनी लेकर बैठेंगे? नहीं, नहीं। हमें उपरोक्त सारी बातों पर ध्यान देना होगा—हाँ, सचमुच जब हम लिखने बैठें!

## ५—शैली

उनकी एक 'शैली' है—सभी ने सुना होगा, पर यह शैली क्या बला है, क्या कभी आपने इस पर विचार किया है? प्रायः सभी अच्छे लेखकों की अपनी शैली होती है। यही उन्हें दूसरों से पृथक् करती है, और जितनी ही प्रौढ़ जिसकी शैली होगी उतनी ही स्पष्ट उसकी

पहचान होती है। पर यह शैली है क्या वस्तु ?

हमारे प्राचीन साहित्य के आचार्यों ने शैली के भेद बतलाये हैं, उनकी पहचान बतलाई है। पर शैली क्या है, इस पर कम प्रकाश डाला गया है। हमारा काम शैली के भेदों से नहीं चलेगा। हम जानना चाहते हैं शैली है क्या वस्तु ?

हम लिखते हैं। यदि हमारी रचनाओं में 'शैली' नहीं तो उनमें कोई विशेषता नहीं पाई जा सकती। कुछ लोग कहते हैं कि विचार होने चाहिए, भाषा और भाव व्यंजना कैसी भी हो। परन्तु, लोग उसे नीरस' भी तो कहने लगते हैं। अतः, भावों और विचारों के अतिरिक्त शैली का होना भी सफल लेखक के लिए आवश्यक है। अन्यथा उसे कौन पढ़ेगा। यदि रचना में रोचकता न हुई तो नीरस वस्तु कौन पढ़ता है। और फिर हमें अपनी मौलिकता और व्यक्तित्व की धाक जमाने के लिए अपनी शैली भी तो बनानी उचित है। पर वह 'शैली' है क्या ?—यह तो मालूम हो।

लोग कहते हैं—'शैली' विचारों का परिधान है, सजधज है। कपड़े सभी पहनते हैं पर सलीक़े से आभूषित व्यक्ति आदर का पात्र होता है। अलंकार और साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने इसी हेतु इसके अनेक उपकरण गिनाये हैं। किसी ने 'गुणों' की गणना की है, किसी ने 'दोषों' का उल्लेख किया है। किसी ने अलकार पर ज़ोर

दिया है, किसी ने छंदों और वाक्यों की योजना की ओर लक्ष्य किया है। पर हमें 'शैली' की आत्मा का साक्षात् जब तक न हो—यह न पता चले कि वह है क्या, उसका अभ्यास कैसे हो—तब तक हमारा काम नहीं चलता। हम लेखक हैं—साहित्य के समालोचक नहीं।

हमारे आलोचक हमारी रचनाओं की आलोचना करते समय हमारी शैली को अच्छे बुरे विशेषणों से विभूषित करते हैं, पर उनकी आलोचना नवसिखुए लेखक को 'शैली' की रूप-रेखा का आभास भी नहीं दे पाती। शैली क्या है?—यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों उत्तर-रहित रहता है। दार्शनिक जब इस पर विचार करने बैठता है तो वह इस बखेड़े से दूर रहने के लिए 'शैली' के फेर को छोड़कर भाव और भाषा पर जा टूटता है। वह सोचता है कि बात कुछ कहने की हो और शुद्ध भाषा में कही गई हो—बस फिर 'शैली' का बखेड़ा ही क्यों? लेखक यदि कुछ विचार रखता है, लोगों पर प्रकट करना जानता है, और शुद्ध भाषा में प्रकट करता है, तब तो निश्चय उसके विचार पाठकों की समझ में आवेंगे। कहने और सुनने का यही उद्देश्य है? फिर शैली की क्या आवश्यकता? परन्तु साहित्यिक केवल इतने से संतुष्ट नहीं होता। वह दार्शनिक ही नहीं; वह भावुक भी होता है—और यही 'भावुकता' साहित्य का आधार है। हमें केवल विचार ही नहीं चाहिए—उनके प्रकाशन का ढङ्ग भी हमें रुचिकर होता

है। हम केवल कपड़ों से तन ही नहीं ढँकना चाहते, वरन् हम सुन्दर परिधान के अतिरिक्त सुन्दर रूप से पहने हुए सभ्य व्यक्ति बनना चाहते हैं। इसी कारण हम शैली की खोज करते हैं।

हम क्या हैं ? —देखते में हम सभी स्त्री-पुरुष समान हैं। पर हम में भारी विभेद है। हमारा अपना-अपना व्यक्तित्व है—हमारी अपनी-अपनी रुचि है, आचरण है, तर्ज़ है, तरीक़ा है, सलीक़ा है। इसी प्रकार लेखक को भी साहित्यिक-क्षेत्र में अपना व्यक्तित्व स्थापित करने के लिए अपनी शैली रखनी होगी—अन्यथा वह लेखक-समूह में न तो पहचाना ही जायगा, न उसमें कोई ऐसी बात होगी कि पाठक उस पर विशेष ध्यान दें। समाज में प्रत्येक व्यक्ति पर कौन ध्यान देता है ? सब की पूछ कहाँ होती है ? इसलिए यदि लेखन-क्षेत्र में चमकना है, तो लेखक को अपनी 'शैली' बनानी पड़ेगी।

बहुत कम लोगों को यह सौभाग्य प्राप्त है कि वे संसार को अभूतपूर्व—अश्रुतपूर्व विचार दे सकें। पर यदि उनमें 'व्यक्तित्व' है, अपना कहने का ढङ्ग है, तो वे पुरानी बातें भी इस प्रकार कह सकते हैं कि उन्हें बहुत से लोग ध्यान से सुनेंगे, पढ़ेंगे और सुनने और पढ़ने की बराबर इच्छा रखेंगे। यह केवल उनकी अपनी 'शैली' का चमत्कार होगा। अब फिर वही प्रश्न सामने आता है—शैली है क्या ? पहले इस पर विचार कीजिए। आप की रचनाएँ क्या हैं ?

आप के विचार आप की अनुभूति, वाह्य जगत् के प्रति आप के अपने राग-विराग, व्याख्या, परिभाषा—इनके अतिरिक्त उनमें और रहता क्या है ? इसी कारण तो मैथ्यू आर्नेल्ड ने कहा था—'साहित्य (काव्य) जीवन की व्याख्या है। अब यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार आप 'जीवन की व्याख्या' करते हैं वैसा दूसरा नहीं करता होगा। अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने के लिए आप को शैली' की सहायता लेनी होती है। आप जिस चीज़ को प्रकट करेंगे अपने ढङ्ग से अपने अनुभव, विचार, कल्पना और अनुभूति के अनुसार। इन सब के कारण आप की भाषा, तर्क-शैली आर व्यञ्जन-प्रणाली में जो नवीनता और अपनापन आता है, वही आप की शैली कहलाती है।

साहित्य में 'शैली' यदि अनावश्यक वस्तु मान ली जायगी तो संभवतः उसकी सारी सार्थकता नष्ट हो जायगी। 'रसात्मकं वाक्यं' फिर केवल 'वाक्यं' रह जायगा और फिर बेकार उसे पढ़कर कोई अपना समय नहीं गँवायेगा। अदालती कागज़ और कार्यवाहियों को पढ़ने की कौन इच्छा करता है ? अतः, साहित्य में सरसता लाने की बात उतनी ही आवश्यक है जितनी भोजन में 'स्वाद' वा 'रस'। ऐसी आवश्यक वस्तु का प्रतिपादन तभी हो सकता है जब हमारे अधिकार में एक 'शैली' और एक अच्छी 'शैली' हो। इसका अभ्यास कैसे किया जाय ?

नवीन लेखकों को पहले अपनी शैली बनानी चाहिए।

यह तभी होगा जब वे अपनी विचार-पद्धति निश्चय करें। विचारों का संग्रह करने के अतिरिक्त उन्हें अपनी तर्क-शैली निश्चय करनी चाहिए। और इसके लिए अपना दृष्टिकोण निश्चय करना होगा। अध्ययन, अनुभव और अन्वीक्षण से प्राप्त ज्ञान पर हमें बैठकर चिन्तन करना चाहिए और अपनी रुचि के अनुसार उन पर तर्क-वितर्क करके किसी निश्चय पर पहुँचना चाहिए। हमारे निश्चय में हमारा दृष्टिकोण मार्ग दिखलाता है। यदि ऐसा हो, तो हमें समझना चाहिए कि हमारा अपना दृष्टिकोण बन गया। फिर हम संसार की समस्त समस्याओं पर अपने दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं—और उन्हें जब हम लिखने बैठेंगे, वे हमारी अपनी शैली में प्रकट होंगे।

जिन लेखकों के विचार परिपक्व नहीं हुए, तर्क प्रणाली स्थिर नहीं हो पाई, दृष्टिकोण निश्चित नहीं हुआ, उनकी शैली उखड़ी-पुखड़ी रहती है। शैली बन जाने पर उसमें विशेषता लाने के लिए हमें साहित्य और भाषा का अच्छा ज्ञान अर्जन करना होगा। क्योंकि, बिना इसके हमारा शब्द-भाण्डार बढ़ेगा नहीं, और हमें सुन्दर-सुन्दर वाक्यों, मुहावरों और शुद्ध प्रयोगों का ज्ञान नहीं होगा। शैली की आत्मा, जहाँ हमारी व्यक्तिगत विचार-प्रणाली और भावुकता से संबंध रखती है, वहाँ उसका मूर्त्त आकार बिना भाषा के खड़ा ही नहीं हो सकता। अस्तु।

———

## ६—कहानी कैसी हो ?

सरस साहित्य की माँग सर्वत्र रहती है, और साधारण पाठकों के निमित्त प्रकाशित होनेवाली पत्र-पत्रिकाओं में इसका होना भी अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी दशा में लेखकों की अधिकतर संख्या यदि इस ओर आकृष्ट हो तो यह कोई अनहोनी बात नहीं। सरस-साहित्य में कहानियों का सर्वप्रधान स्थान है। कहानियों का प्रचार आजकल ही नहीं वरन् अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है। मानव समाज ने अपने कितने अनुभव, कितनी अनुभूति और कितनी कल्पना इस रूप में सुरक्षित की थी, जिन्हें पढ़कर मनुष्य अपना मनोरंजन करता हुआ सदा से कुछ सीखता आया है। वर्तमान युग में कहानियों का प्रचार देखकर कुछ लोग तो उन्हें भावी साहित्य का प्रधान अंग मानने लगे हैं। बात ठीक ही है। आधुनिक युग की प्रवाहगति और जीवन-संग्राम की तुमुलता में व्यस्त मनुष्य यदि अपने अवकाश के समय अपना मनोरंजन चाहता है तो उचित ही है। उसे इतनी फ़ुर्सत कहाँ कि साहित्य के गूढ़ प्रश्नों पर पोथियाँ—और वे भी नीरस सत्य का प्रतिपादन करनेवाली, अरोचक शैली में लिखी पोथियाँ—पढ़ सकें। उसे तो ऐसा साहित्य चाहिए जिसमें समय कम लगे और पढ़ते समय मानसिक परिश्रम भी कम करना

पड़े। यही कारण है कि कहानियों के प्रचार में हम दिनों-दिन वृद्धि देख रहे हैं।

अब प्रश्न यह कि यदि हम कहानी लिखना चाहते हैं तो वह कैसी हो ? यह प्रश्न विशेष कर नये लेखकों के सामने आता है और इसी का सर्वप्रथम समाधान करना आवश्यक है। आजकल हिन्दी में प्रायः सभी दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पत्रों में कहानियाँ देखने में आती हैं। परन्तु, अन्य भाषा के पत्रों को देखते हुए हमें यह दुख से कहना पड़ता है कि हिन्दी में इनका उचित वर्गीकरण नहीं हो रहा है। कभी-कभी दैनिक वा साप्ताहिक पत्रों में ऐसी कहानियाँ देखने को मिलती हैं जिनका उचित स्थान किसी मासिक—और उच्च कोटि के मासिक—में होना चाहिए था। कभी-कभी इसके नितान्त प्रतिकूल भी बात देखने में आती है। इसका कारण यही है कि पत्रों के सम्पादकों ने कभी अपनी आवश्यकताओं से लेखकों को परिचित नहीं कराया। और क्या उन लोगों ने अपनी आवश्यकताओं का 'स्टैण्डर्ड' भी निश्चित किया है ? - यह भी स्मरण रखने की बात है। जब दशा ऐसी है तो इस विषय में यह कहना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है कि, किस प्रकार के पत्र के लिए कैसी कहानी लिखी जाय। परन्तु साधारणतः कहानी कैसी हो—इस पर हमें अवश्य ध्यान देना चाहिए।

कहानी के दो भेद किये जा सकते हैं। एक तो

होगा 'साहित्यिक' और 'कलापूर्ण', दूसरा होगा सर्व-साधारण के लिए और 'सर्वप्रिय' वा 'मनोरंजक'। साहित्यिक और कलापूर्ण कहानियों का उचित स्थान मासिक पत्र—और उच्चकोटि का साहित्यिक मासिक-पत्र हैं—और यदि लेखक एक अच्छा लेखक और विख्यात व्यक्ति है तो उसकी कहानियाँ पुस्तक रूप में भी स्थान पा सकती हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त साधारण जनता के लिए लिखी कहानियों का पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों में ही प्रकाशित होना उपयुक्त है। कारण यह है कि ऐसी कहानियों का उद्देश्य केवल पाठकों की सामयिक रुचि को संतुष्ट करना तथा अवकाश के समय में उनका मनो-रंजन करना होता है। साधारण पाठक, चाहे किसी भाषा के हों, उच्च कोठि की वस्तुओं का आनन्द नहीं उठा सकते। और मासिक पत्रों के अतिरिक्त पाक्षिक, साप्ता-हिक तथा दैनिक पत्रों का ध्येय स्थायी साहित्य उत्पन्न करना होता भी नहीं।

साहित्यिक, कलापूर्ण वा गंभीर कहानियों में लेखक का उद्देश्य कला का प्रदर्शन अधिक होता है। उसे इसकी परवा नहीं रहती कि पत्र का संपादक उसके विचारों, शैली वा अन्य बातों से सहमत है वा नहीं। उसे तो अपनी कला का प्रदर्शन करने के हेतु हर प्रकार के बंधन का निराकरण करना पड़ता है। ऐसी रचनाओं का स्थायी महत्व होता है और ऐसी कहानियों का लेखक

साहित्य-जगत में अपना एक स्थान बना लेता है। और फिर वह अपनी रचना के लिए स्वयं उत्तरदायी रहता है। मासिक पत्रों के संपादक प्रायः ऐसी कहानियों को लेखक की ज़िम्मेदारी पर छापते हैं। परन्तु ऐसे लेखको की संख्या अधिक नहीं होती और न हो ही सकती है। प्रतिभा सब में नहीं होती और न सब लेखक उच्च कोटि की कलापूर्ण रचनाओं की सृष्टि करने में कहीं सफल ही हुए हैं। अतः लेखकों की अधिकतर संख्या, सभी भाषाओं के, प्रायः सर्वसाधारण के लिए लिखने का अभ्यास करती है। यह सुगम भी है और परिश्रम से इसमें लोग सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वसाधारण के लिए कहानियों की माँग काफ़ी रहती है। परन्तु उसके लेखक को प्रथम जनता की रुचि को समझने का प्रयत्न करना पड़ेगा। हिन्दी के पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक आदि के सम्पादक अभी लेखकों को इस विषय में सहायता नहीं देते, अतः लेखक को स्वयं, जिस पत्र में लिखना हो, उसके पाठकों की आवश्यकताएँ जाँचनी पड़ेगी। उसे इस बात को समझने का उद्योग करना पड़ेगा कि उसके भावी पाठक क्या पसन्द करेंगे। यदि वह इसका अध्ययन कर सका तो उसकी कहानी सर्वप्रिय होगी और उसकी रचना की बराबर माँग रहेगी।

साधारण पाठकों के लिए ऐसी वस्तुओं पर कहानियाँ न लिखनी चाहिए जिससे वे भड़कते हों। उनकी रुचि,

उनके विचारों, विश्वासों तथा उनकी अनुभूतियों का ठीक-ठीक ज्ञान रखना चाहिए। कहानी में ऐसी कोई बात न हो जिससे पाठकों की धार्मिक, सामाजिक वा जातीय अनुभूतियों को आघात पहुँचे। मनोरंजन मुख्य उद्देश्य होना चाहिए—और साथ-ही-साथ स्वस्थ, सात्विक और साहित्यिक रूप से होना चाहिए। साधारण पाठकों में स्त्रियाँ होती हैं, बूढ़े-जवान, पढ़ने योग्य बालक-बालिकाएँ, सभी होते हैं। अतः, कहानी-लेखक को सब का ध्यान रखना पड़ेगा। अभी हिन्दी में वह अवस्था नहीं है कि प्रत्येक दैनिक वा साप्ताहिक में बालक-बालिकाओं के लिए अलग-अलग 'स्तम्भ' हों। अतः लेखक को इस पर ध्यान रखना पड़ेगा कि उसकी कहानी में कोई बात अश्लील न आने पावे, उससे बुरी शिक्षा न मिले, उससे गृहस्थ परिवार में बुराई न फैले, उसके कारण भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों वा जातियों में वैमनस्य न उत्पन्न हो, धार्मिक दुर्भाव न बढ़े, समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में द्रोह वा दुर्भावना न जाग्रत हो। साधारण पाठक 'समस्याओं' से भी घबराते हैं। कहानी उन्हें उलझन में डाल दे और वे उसके अन्तिम परिणाम पर सोचते रहें—यह वे नहीं सहन कर सकते। उनके लिए कहानी सर्वथा पूर्ण और सुलझी हुई होनी चाहिए। यद्यपि हमारे सम्पादक लोग अभी उपरोक्त बातों पर विशेष ध्यान नहीं देते, परन्तु लेखकों को तो अवश्य इन पर ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार की कहानियों में वास्तविक जीवन के परे की बातें भी अच्छी नहीं होतीं। यदि चमत्कार या अद्भुत रस का उद्रेक करने के लिए कुछ अस्वाभाविक बातें रखी भी जायँ तो उसका समाहार भी होना चाहिए, रहस्य का उद्घाटन अवश्य होना चाहिए तथा कुतूहल भी शान्त होना चाहिए। साधारण पाठक कहानियों में 'प्लाट' वा कथा-वस्तु ढूँढ़ता है। उसे प्रेम-कथाएँ अधिक पसंद आती हैं। उन्हें ऐसी कहानियाँ अच्छी लगती हैं जिनकी 'भूमिका' से वे परिचित हों। सामयिक और आधुनिक परिस्थिति में घटी घटनाएँ उन्हें अधिक रोचक जान पड़ती हैं। उन्हें ऐसी कहानियाँ भली मालूम पड़ती हैं जिनसे कुछ अच्छा परिणाम निकले, कुछ शिक्षा मिले।

कहानी की सृष्टि करनी चाहिए। केवल गढ़कर कहानी लेखक उसे सफल नहीं बना सकता। उसे घटनाओं में नवीनता लानी चाहिए, परन्तु उसे विचारक की भाँति नये विचारों का प्रचार नहीं करना चाहिए। जनता अपने विश्वास को जल्दी छोड़ने के लिए तैयार नहीं रहती और न वह उन पर आघात ही सहन कर सकती है।

कहानी लिखने की एक कला होती है, जिसके लिए प्रतिभा, अध्ययन तथा अभ्यास की आवश्यकता होती है। इस हेतु अविरल प्रयत्न करना चाहिए। साधारणतः कहानी-लेखकों को कहानी लिखते समय कुछ बातों पर ध्यान रखना चाहिए। प्रथम तो उन्हें यह देखना चाहिए कि

कहानी के सभी अंग-प्रत्यंग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं या नहीं; ऐसा तो नहीं है कि उनमें आपस में कोई सामञ्जस्य ही न हो। यदि कहानी में प्रयत्न ( action ) अधिक है तो उसी मात्रा में उसको सजाना चाहिए जिसमें पाठक ऊब न जाय। बीच-बीच में लेखक को अपनी ओर से भी कुछ कहते रहना चाहिए। सारांश यह है कि कहानी की 'रोचकता' को सर्वथा 'नवीन' रखने का प्रयत्न होना चाहिए। कभी-कभी लेखक इसे भूल जाते हैं और उनकी कहानी नीरस हो उठती है।

कहानी का आरंभ एक बार होना चाहिए। आरम्भ हुआ और कह चले। फिर बीच-बीच में नया-नया आरंभ नहीं होना चाहिए। एक बैठक में लिखी और एक बैठक में पढ़कर समाप्त की जानेवाली कहानी सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। बात यह है कि लेखक को इस बात के प्रति सावधान रहना चाहिए कि एक बार कहानी आरम्भ कर, पाठकों का ध्यान अपने साथ लेकर, वह सीधा चला चले और फिर बीच में व्यर्थ बखेड़ों में न पड़कर उसे अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचावे। इस हेतु उसे कहानी में व्यर्थ की बातों का वर्णन नहीं करना चाहिए।

काव्य ( साहित्य ) जीवन की व्याख्या है—किसी ने सच कहा है। कहानी भी उसी जीवन की एक 'झलक' ( snap-shot ) है। अतः लेखक को कहानी लिखते समय अपने 'स्नैप-शाट' का ध्यान रखना चाहिए—व्यर्थ

की आस-पास की 'भूमिका' ( surroundings ) का नहीं। तभी उसका चित्र सुन्दर और चमत्कारपूर्ण होगा। लिखते समय लेखक को प्रत्येक वर्णन के विषय में, अपने से पूछते रहना उचित है—'क्या यह आवश्यक है ? क्या इसे छोड़ा नहीं जा सकता ?' कहानी में 'लिखने की कला' और भाषा की 'चुस्ती' मुख्य गुण हैं।

कहानी-कला के एक अच्छे विशेषज्ञ मिस्टर ए० ई० कोपर्ड का कहना है कि कहानी केवल एक ही दृष्टि-कोण से लिखी जानी चाहिए, चाहे वह लेखक की ओर से हो वा किसी एक पात्र की ओर से। तात्पर्य यह है कि कहानी में बहुत से पात्रों का होना अच्छा नहीं। जीवन की एक 'झलक' के हेतु एक दो पात्र काफ़ी हैं। उपन्यास और कहानी में यही अंतर है। कहानी लिखने की शैलियाँ इतनी विभिन्न हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। उनका आरम्भ, मध्य और अन्त कैसे करना चाहिए—यह अभ्यास से सीखा जा सकता है। परन्तु इसका ध्यान रखना चाहिए कि सर्वत्र कहानी में रोचकता, सरसता और चमत्कार सुरक्षित रहे। कहानी की भाषा बड़ी चुस्त, स्पष्ट और मुहावरेदार होने से कहानी का प्रभाव बढ़ जाता है। जिस प्रकार एक चतुर चित्रकार अपनी तूलिका से कुछ ही रंगों के हेर-फेर और 'टच्' वा स्पर्श से एक सुन्दर, सजीव चित्र सामने उपस्थित कर देता है, उसी भाँति एक चतुर कहानी-लेखक अपनी सुन्दर भाषा द्वारा अपने

सुन्दर भावों को संक्षेप में सामने रखकर जीवन की एक सुन्दर व्याख्या पाठकों के सम्मुख रख सकता है। और फिर उसकी कहानी अच्छी न हो—यह असम्भव है।

कहानी लिखने के पूर्व लेखक को अपनी कथा-वस्तु का सम्पूर्ण रूप से मन में प्रत्यक्षीकरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो लेखक अपनी कहानी को 'फ़ील' अर्थात् मानसिक प्रत्यक्षीकरण करके लिखता है, उसकी कहानी पाठकों के हृदय को प्रभावित करती है। लेखक को अपने पात्रों के साथ सुख और दुख का अनुभव करना चाहिए। तभी उसके पात्रों का आचरण स्वाभाविक होगा और उसकी कहानी पाठकों के हृदय पर प्रभाव डालेगी। हृदय से निकली हुई बात यदि हृदय तक न पहुँची तो फिर कैसे क्या होगा ?

नवसिखुए लेखकों को अपनी रचनाओं को या तो किसी अनुभवी लेखक को पढ़कर सुना देना चाहिए और उसमें उचित संशोधन करा लेना चाहिए अथवा स्वयं उन्हें कुछ समय पश्चात् शान्तचित्त होकर दोहराना चाहिए। कहानी के विषय में यह बात अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि सभी पाठक कहानी के आलोचक होते हैं— और यह मानना पड़ेगा कि साधारण स्त्री-पुरुष उसके अच्छे आलोचक होते हैं। पढ़ा-लिखा पाठक कभी-कभी 'कला' के नाम पर वा 'काव्य-समय' के नाम पर, कुछ बातों पर आँख बचा जायगा, पर साधारण पाठक जिसके

अनुभव का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से अधिक है, ऐसी खटकनेवाली बातों पर कभी चुप रहने को तैयार न होगा। वह तुरन्त कहानी को अस्वाभाविक, मनगढ़न्त और लेखक की 'बहक' कहकर, उसे पढ़ने के लिए रोकेगा। इसलिए लेखकों को अपनी कहानियों की अच्छी तरह परख करके उन्हें प्रकाशनार्थ भेजनी चाहिए। हम सर्वसाधारण के हेतु लिखी कहानियों की बात करते हैं—कलापूर्ण वा उच्च-कोटि की साहित्यिक, समस्या-पूर्ण आख्यायिकाओं के विषय में नहीं। प्रसिद्ध पत्रकार हेरोल्ड हर्ड ने कहानी की परख के लिए निम्नलिखित प्रश्न-सूची तैयार की है जिसके अनुसार लेखक को अपनी कहानी की परख कर लेनी चाहिए। परख-प्रश्नावली यों है—

(१) क्या कहानी का शीर्षक आकर्षक है ? (२) क्या 'आरम्भ' से कुतूहल जागृत होता है ? (३) क्या 'परिणाम' के हेतु पाठक निरन्तर प्रतीक्षी रहता है ? (४) क्या कहानी में यथेष्ट 'प्रयत्न' है ? (५) क्या प्रभाव मार्मिक और गम्भीर है ? (६) क्या पात्रों का चरित्र स्पष्ट और स्वाभाविक है ? (७) क्या कहानी 'विश्वास-योग्य' है ? (८) क्या उसमें यथेष्ट 'संघर्ष' है ? (९) क्या कहानी का अन्त' सचमुच हृदय पर प्रभाव डालता है ?

हमारे लेखक-गण इस सूची से लाभ उठा सकते हैं।

# ७—कहानी और कहानी लिखना

कहानी रचना की बात उठाते ही हम से प्रश्न होगा कि कहानी है क्या ? उसकी परिभाषा क्या होगी ? यह प्रश्न आज का नहीं; सदा का है। कहानी क्या है ? इसे बतलाना आसान नहीं जितना कि पूछना। परिभाषा किसी वस्तु की आसान नहीं, उससे कठिन उसकी व्याख्या होती है। जिसने हाथी नहीं देखा उसे केवल शब्दों द्वारा हाथी का ज्ञान कराना असंभव है। उसी तरह जिसने कहानी नहीं पढ़ी—वह केवल शब्दों द्वारा कहानी की रूपरेखा नहीं समझ सकता।

साधारणत: व्यावहारिक ज्ञान से लिए, मिस्टर फोस्टर ने लेखकों के लिए कहानी की परिभाषा यों दी है—It is a series of crises relative to each other and bringing about a climax.—अर्थात् कहानी घटनाओं का सबद्ध क्रम है जो किसी परिणाम पर पहुँचता है। अधिक स्पष्ट करने के लिए—कहानी किसी महान् घटना का संक्षिप्त वर्णन है। वह घटना सर्वाङ्गपूर्ण होती है। वह साधारण से भिन्न होती है और उसमें मानव प्रकृति का कोई मौलिक रहस्य होता है।

कहानी लेखक करता क्या है ? वह एक घटना से आरम्भ करता है, उस के 'कारण' पर प्रकाश डालता है।

फिर उससे उत्पन्न दूसरे 'कार्य' वा 'परिणाम' की ओर चलता है। धीरे-धीरे 'कारण' और 'कार्य' का सबन्ध दिखाते हुए किसी ऐसे परिणाम पर जा ठहरता है जिस का आगे जाना अनावश्यक होता है। 'कारण' और 'कार्य' के सिद्धान्तों और व्यापारों को समझना—यही कहानी लेखक के लिए परमावश्यक है। साधारण जीवन में जो 'कारण' और 'कार्य' का लौकिक सबंन्ध हम नित्य देखते हैं उन्हीं में विशेषता और चमत्कार दिखलाना ही कहानी लेखक की कला है। जिसे हम नित्य देखते सुनते हैं उसी के प्रति 'राग' उत्पन्न करके परिणाम पर पहुँचना कहानी लेखक की सफलता है। इसी हेतु केवल सच्ची घटना के भरोसे अच्छी कहानी लिख सकने का दावा व्यर्थ है। घटना की वास्तविकता कहानी की सफलता का प्रमाण नहीं हो सकती। देखना यह है कि कहानी लेखक ने कहाँ तक पाठकों की सहानुभूति प्राप्त की, कहाँ तक पाठक उसे पढ़-कर प्रभावित तथा संतुष्ट हुए।

प्रकृति कलाकार नहीं है। प्राकृतिक वस्तुओं में स्वा-भाविकता है—कला नहीं। प्रकृति को सँवारना, उसे मानव प्रकृति के अनुकूल करना ही कला का काम है। स्वाभाविक गति में कारण और कार्य का परिणाम अपने समय पर घटता है, पर कहानी लेखक को उतने समय तक ठहरने का अवकाश नहीं है। उसे घटनाओं के परि-णाम को इच्छानुसार शीघ्र वा विलंब से लाना होता है।

आवश्यकतानुसार उसे कितने छोटे-बड़े परिणामों को छोड़ कर ईप्सित परिणाम पर पहुँचना होता है। प्रकृतिक की गति से कहानी लेखक नहीं चलता। वह अपनी गति से चलता है। प्रकृति पर आँख रखकर वह अपनी कहानी को अस्वाभाविक और असंभव होने से बचाता है। कला की सहायता से वह उसे रोचक और प्रभावोत्पादक बनता है।

साहित्य यदि जीवन की व्याख्या है तो उपन्यास और कहानी में हम जीवन की झलक ही देखते हैं। उपन्यास में उसे हम विस्तृत रूप में देख सकते हैं क्योंकि उसका विस्तार अधिक होता है। कहानी में हमें उतना अवसर नहीं। इसीलिए हम उतने विस्तार में नहीं जा सकते। यदि अच्छी कहानी लिखनी हो तो घटनाओं की शृङ्खला बहुत समय तक न चलनी चाहिए। समय का विस्तार अधिक रखना कहानी को शिथिल बना देता है। जितने ही कम समय में कहानी की घटनाओं का प्रसार होगा उतना ही अधिक उसका प्रभाव पाठकों पर पड़ेगा। अधिक विस्तार से घटनाओं के क्रम का नियंत्रण कठिन हो जाता है और यह असम्भव नहीं कि लेखक अपनी कहानी का अंत वहाँ न कर पावे जहाँ उसने पहले सोच रक्खा था। और फिर यह भी असंभव नहीं कि कहानी का प्रभाव कुछ-का-कुछ हो उठे। इसी लिए कहानी में बहुत सी घटनाओं का उल्लेख न कर परिणाम पर पहुँचानेवाली मुख्य-मुख्य घटनाओं को ही लेना चाहिए।

कितने वर्षों की घटना कहानी में रहे, यह सीमित नहीं किया जा सकता। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जहाँ कहानी की सफलता की बात है वहाँ केवल मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन करते हुए पाठकों को सीधे परिणाम पर पहुँचाना ही उचित है। जिस प्रकार लम्बी यात्रा करते समय हम डाक गाड़ी से सफ़र करते हैं। छोटे-बड़े स्टेशन सभी मार्ग में पड़ते हैं पर हम केवल बड़े-बड़े और अनिवार्य स्टेशनों पर ही रुकते हैं। मार्ग वही है जिससे पैसंजर ट्रेन भी आती है, पर हमें अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने की इतनी जल्दी रहती है कि हम सब स्टेशनों पर व्यर्थ समय नष्ट नहीं करते। उसी प्रकार कहानी में भी होना चाहिए। मार्ग में पाठकों की सहानुभूति न भटकने देना चाहिए, नहीं तो उन्हें 'परिणाम' का ध्यान ही जाता रहेगा और कहानी केवल घटनाओं का 'ब्योरा' मात्र रह जायगी।

कहानी की सपूर्णता ही कहानी की सफलता है। यदि कहानी पढ़कर पाठक सन्तुष्ट न हुए, यदि उन्हें विश्वास न हुआ कि घटनाएँ 'संभव' हैं, यदि उनका मन मसोसता रहा कि कुछ और नहीं लिखा गया, यदि वे उलझन में पड़े रहे, तो निश्चय जानिये वह कहानी 'सफल' नहीं हुई। कहानी का 'अत' उस कहानी का स्वाभाविक 'अंत' होना चाहिए—ऐसा कि फिर उसका आगे बढ़ना असंभव हो जाय। कहानी का आरम्भ और

अंत ऐसा अयोन्याश्रय होना चाहिए कि यदि एक बदल दिया जाय तो दूसरा भी बदलना पड़े। और फिर दोनों के बीच की घटनाएँ कभी उस रूप में तो रह ही न सकेंगी। कहने का तात्पर्य यह कि कहानी इतनी संपूर्ण होनी चाहिए कि फिर उसमें कोई परिवर्तन न हो सके।

कहानी में कथानक होता है। उस 'वस्तु' का बीज आरम्भ में ही पड़ जाना चाहिए और उसका क्रमिक विकास इस प्रकार होना चाहिए कि परिणाम पर पहुँचते-पहुँचते कहानी 'समाप्ति' पर पहुँच जाय। कुछ लेखक बिना संपूर्ण कहानी सोचे ही लिखना आरंभ कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि वे बहक जाते हैं। उनका मार्ग बदल जाता है। कहानी का प्रभाव कुछ का कुछ हो जाता है। मिस्टर स्ट्रांग का भी मत है—

"A story should only start once. Having started, it should go straight ahead and contain nothing that does not lead directly or indirectly to the climax. The reader's progress from start to finish should be even and controlled.

To secure this smoothness, there must be no irrelevant detail. 'No admittance except on business', must be the short story writer's motto"

जिस प्रकार कहानी में 'समय' बहुत लम्बा न होना अच्छा है उसी तरह उस में पात्रों की संख्या भी अधिक

न होनी चाहिए। दो या तीन पात्र कहानी के लिए काफ़ी हैं। उससे अधिक, कहानी की सीमा से बाहर हो जाते हैं। उनका उचित स्थान उपन्यास है जिसमें विस्तार काफ़ी होता है, और जिसमें बहुत से पात्रों को लेखक मार्ग में ही छोड़ सकता है। कहानी में कोई पात्र अंत के पहले नहीं छोड़ा जा सकता।

कहानी में कथानक वा प्लाट मुख्य वस्तु है। प्लाटरहित कहानी चाहे कितनी ही अच्छी लिखी जाय पर वह अच्छी न होगी। विशेष कर साधारण श्रेणी के पाठकों के लिए तो कहानी में अच्छा और मौलिक कथानक होना अत्यन्त आवश्यक है। वे शैली वा कला के उतने ग्राहक नहीं जितने अच्छे प्लाट के। नया लेखक कभी-कभी किसी परिस्थिति वा विषय को कथानक समझ लेता है। इसका फल यह होता है कि वह किसी तरह कहानी की पूर्ति करता है और परिणाम तक नहीं पहुँच पाता। कहानी केवल घटनाओं का क्रम नहीं है। उसमें एक ऐसा 'अंत' होना चाहिए जिस तक पहुँचने में समस्त घटनाएँ सहायक हों और जिस तक पहुँच कर वे उसके आगे जाने की अपेक्षा न करें। यह 'परिणाम' कहलाता है। परिणाम चमत्कारपूर्ण और प्रभावोत्पादक होना चाहिए।

कुछ लेखक पहले किसी विषय या समस्या को लेकर कथानक बनाते हैं, कुछ परिस्थिति लेकर कथानक रचते हैं, कुछ प्लाट ही को लेकर चलते हैं और कहानी का

ढाँचा तैयार करते हैं, कुछ बिना कुछ सोचे ही कहानी आरंभ कर देते हैं और अवसर और भविष्य के भरोसे उसे छोड़कर लिखना आरभ कर देते हैं—जहाँ अन्त हो जाय, जैसे भी अन्त हो जाय ! इनमें कौन मार्ग अच्छा है कौन बुरा—यह कहना कठिन है। यह लेखक की योग्यता और क्षमता पर निर्भर है। परन्तु सब की परख सम्पूर्ण कहानी है और उसकी सफलता में ही लेखक की शैली की सफलता है। कुछ लोग ऐसे भी देखे गये हैं जिनकी कहानी एक 'पात्र' से आरंभ होती है। किसी पात्र की कल्पना उनके मन में आयी, उसके आचरणों का मूर्तिमान रूप उनकी कल्पना ने तैयार किया और वे कहानी लिख चले। ऐसी कहानी में पात्र का चरित्र-चित्रण ही सर्व प्रधान होता है।

नये लेखक के लिए सब से अच्छा यह है कि वह एक विचार को निश्चित करे। फिर उस पर कथानक सोचे और कहानी का ढाँचा बनाकर लिखना आरम्भ करे। सब से आवश्यक बात कहानी में यह है कि कुछ कहने की बात उसमें होनी चाहिए।

अधिकतर देखा गया है कि प्लाट वा कथावस्तु सोचने और बनाने से बनती है। एकाएक कथानक मन में उद्भूत नहीं होता। जिस लेखक में अन्वीक्षण शक्ति है, 'ग्राहकता' है, उसे बहुत से प्लाट मिलते हैं। एक कहानी-लेखक का कहना है कि, जिधर मैं आँख उठाता हूँ मुझे प्लाट-ही-प्लाट

नज़र आते हैं। यदि लेखक का मस्तिष्क ठीक ढँग पर विकासप्राप्त है तो उसे हर स्थान में कथावस्तु मिल सकती है। रास्ते में, रेल पर, समाचारों में, बातचीत में—सभी स्थलों और अवसरों पर। विचारों की कमी नहीं, पर उन पर संपूर्ण कहानी का ढाँचा बना लेना परिश्रम और कार्यकुशलता की अपेक्षा करता है। इसी में लेखक की मौलिकता और व्यक्तित्व हैं। जितनी जिसकी जानकारी होगी, जो जितना ही दूर तक पहुँच सकेगा वह उतनी ही उत्तमता और कलात्मक रूप से कहानी का ढाँचा बनायेगा। एक ही विचार पर अनेक लेखक अनेक कहानियाँ लिख सकते हैं—सब एक होते हुए भी भिन्न होंगी। लेखक को प्लाट सोचने और कथानक का ढांचा सोचने का अभ्यास बराबर करना चाहिए। विचारों की कमी नहीं—अनुभवों की कमी नहीं, कमी होती है लेखक में उन पर कथानक बना सकने की योग्यता की और अपने अनुभवों को काम में लाने की क्षमता की।

कहानी लेखक को बराबर अपनी नोटबुक में कहानी के योग्य विचारों को नोट कर लेना चाहिए। फिर समय-समय पर उन पर सोचते रहना चाहिए। यदि विचार-धारा में कहीं वह किसी विचार पर संपूर्ण कहानी सोच ले और उसमें कोई ऐसा स्थल आ जाय जहाँ कहानी का 'परिणाम' पहुँच जाय, तो उसे तुरन्त नोट कर लेना चाहिए। कहानी-लेखक को अपने जीवन का अच्छी तरह अध्ययन और

अनुभव करना चाहिए। अपना अनुभव कहानी लेखक के बड़े काम की वस्तु है। इस हेतु उसे सदा सजग रहना चाहिए।

कहानी की सफलता बहुत कुछ उसके 'आरंभ' पर निर्भर रहती है। अँग्रेज़ी में एक कहावत है—Well begun is half done. यदि वृक्ष होनहार है तो उसका पहला ही पत्ता चिकना होगा। मिस्टर ओल्वेन ए० जोर्जेन 'कहानी कैसे आरंभ की जाय?' पर लिखते हुए कहते हैं—There can be no doubt that the opening is a decisive factor in a short story's fate—अर्थात् कहानी का भाग्य-निर्णय बहुत कुछ 'आरंभ' पर निर्भर रहता है। परन्तु कहानी-लेखकों में नवसिखुए इस पर बहुत कम ध्यान देते हैं। कहानी का आरम्भ करते समय कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

पहली बात यह कि कहानी का आरम्भ स्पष्ट' होना चाहिए। 'स्पष्टता' कहानी को आकर्षक बना देती है। पाठक पहला वाक्य पढ़ते ही उसमें लग जाता है। जिसे हम नहीं समझेंगे उसे पढ़ने की हमें क्यों इच्छा होगी? कुछ लेखक अपनी 'समझ' से पाठकों की परख करते हैं। यह न समझना चाहिए कि यदि हमें (लेखक को) कहानी का आरम्भ ठीक जँचता है तो वह पाठक को भी स्पष्ट होगा। लेखक अपनी कहानी की सारी बातों से परिचित होता है। उसकी कल्पना में सारी बातें होती हैं। इसी लिए

उसे किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। परन्तु पाठक तो अभी कहानी को पढ़ भी नहीं पाया है, अतः, उसके लिए यदि आरम्भ दुरूह, अरोचक वा गूढ़ हुआ तो वह उसे पढ़ने की परवा न करेगा। जिस घर का द्वार इतना दुर्भेद्य होगा उसके भीतर कौन प्रवेश करने का साहस करेगा? पाठक आपका अतिथि है, आलोचक नहीं। उसके लिए आपको अपनी कहानी का द्वार खुला रखना चाहिए।

मिस्टर जोर्जेन कहते हैं—The opening paragraph ( of the story ) should be crystal clear. अर्थात् कहानी का प्रारम्भिक पैरा आइने की भाँति निर्मल होना चाहिए।

कहानी के आरम्भ में बहुत से व्यक्तियों या स्थानों के नाम न लिखना चाहिए। पाठक धीरे-धीरे 'पात्रों' को पहचानता है, उनके नाम याद करता है। यदि आरम्भ में ही उसे दस-पाँच नाम गिना दिये गये तो वह किसी को भी स्मरण न रखेगा। पहले उसे पात्रों वा स्थानों का परिचय देना चाहिए, फिर उनके नाम बतलाना उचित है—अन्यथा वह स्मरण न रखेगा, और कहानी उसके लिए 'परीक्षा' हो उठेगी। बहुत सी कहानियाँ इसलिए बिगड़ जाती हैं कि उनके आरम्भ में लेखक ने बहुत से पात्रों की भीड़ लगा दी, बहुत से नाम गिना दिये। होना यह चाहिए कि कहानी में धीरे-धीरे पात्रों का एक-एक कर के

प्रवेश हो। कहानी में यों भी बहुत से पात्र न रखने चाहिए, दूसरे मुख्य पात्र का प्रवेश विलंब करके न कराना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो पाठकों को कष्ट होता है, और कहानी का मज़ा किरकिरा हो जाता है। पाठकों का स्वभाव है कि वे कहानी के आरम्भ में आनेवाले पात्र को 'नायक वा नायिका' मान लेते हैं। यदि आगे चल कर उन्हें मालूम होता है कि यह तो 'यों ही' था तो उन्हें फिर से अपनी सहानुभूति को दूसरे पात्र के प्रति लक्ष्य करनी पड़ती है। इस 'पात्र परिवर्तन' से पाठकों की कल्पना और स्मरणशक्ति को व्यर्थ आघात पहुँचता है, जो उन्हें विमनस और चिड़चिड़ा बना देता है। फिर कहानी का उन्हें मज़ा क्या मिलेगा? आरम्भ में एक या दो से अधिक पात्रों का आना कहानी को बिगाड़ देता है।

कहानी के आरम्भ से ही कथानक का 'विन्दु' रखना चाहिए। अनर्गल बातों के लिए न कहानी में स्थान है न पाठकों को फ़ुर्सत है। सारे कथानक की कुंजी कहानी के आरम्भ में आनी चाहिए। यदि कहानी-हास्य-रस-प्रधान है तो कभी कोई करुणोत्पादक बात आरम्भ में न लिखे। प्रेम-कथा, रहस्यात्मक कथा आदि सभी प्रकार की कहानियों में आरम्भ ऐसा होना चाहिए जिसमें पाठक उसके आरम्भ से ही आनेवाली बातों के विषय में कुछ समझ सके। पाठक जिस दृष्टिकोण वा आशय से कहानी आरम्भ करता है। यदि उसमें उलट-फेर होता है तो उसे

झल्लाहट आती है और कहानी की सफलता संदिग्ध हो उठती है।

कहानी-लेखकों का एक साधारण दोष यह है कि वे कहानी के आरम्भ में व्यर्थ का 'वर्णन' करने लगते हैं। एक युग था जब लोगों को काफ़ी फ़ुर्सत थी। कहानी पढ़ने के पहले पृष्ठ-के-पृष्ठ 'प्रकृति-वर्णन' का वे आनन्द लेते थे। अब वह फ़ुर्सत का युग नहीं रहा। अब तो पाठक संक्षेप-से-संक्षेप में कहानी के उद्देश्य से परिचित होना चाहता है। अतः अब इस युग में कहानी के आरंभ में पैरा-का-पैरा प्रकृति-वर्णन लिखना व्यर्थ का बकवास मात्र माना जायगा। सीधे नाक पकड़िये—यही नवीन कहानी लेखकों का गुरुमंत्र होना चाहिए। इस दृष्टि से कभी आरंभ में असम्बद्ध बातें अथवा आवश्यकता से अधिक विस्तार न होना चाहिए, किसी पात्र का अनावश्यक परिचय न देना चाहिए। पाठकों की इसमें क्या दिलचस्पी होगी—यह सदा लेखक को सामने रखना चाहिए।

चतुर लेखक कभी स्वयं कुछ न कह कर आवश्यक बातों का परिचय पात्रों के कथनोपकथन द्वारा प्रकट करता है। यह ढंग कहानी को और निखार देता है। अच्छी कहानी में तो आरम्भ किसी घटना से होना चाहिए। इससे पाठक तुरंत उस कहानी को पढ़ने के लिए लालायित हो उठते हैं। यदि एकाएक कोई धड़ाका हो जाय—

सभी दौड़ पड़ेंगे। सभी का कुतूहल जाग उठेगा, फिर धीरे-धीरे सारा रहस्य जानने पर चाहे बहुत से दर्शक लौट जायँ। इसी तरह पाठकों को आकृष्ट करने के लिए आरंभ ऐसा होना चाहिए कि प्रथम ही वाक्य कुतूहल जाग्रत कर दे। परन्तु, यह कुतूहल कहानी के अंत तक जाग्रत रखना होगा। यदि कहानी में 'घटनाएँ' प्रारंभ से होने लगती हैं तो वह अत्यन्त रोचक हो जाती है। व्यर्थ वर्णन कभी-कभी पाठकों को हतोत्साहित कर देता है और वे फिर उसे पढ़ते ही नहीं।

सब से अच्छा तरीक़ा कहानी आरंभ करने का यह है कि उसका आरंभ कथोपकथन से किया जाय। जब हम दो आदमियों को बात करते पाते हैं तो हम उनकी बातें सुनने को खड़े हो जाते हैं। हमारा कुतूहल जाग्रत हो जाता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। परन्तु कहानी के आरम्भ में कथोपकथन रखते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि वह कथोपकथन अनगर्ल न हो—मुख्य कथानक से उस का संबन्ध अवश्य हो और ऐसा संबन्ध हो जैसे वही समस्त कथानक की कुंजी हो।

कहानी में विस्तार कम होता है, समय बहुत कम मिलता है। अतः संक्षेप में कहना, थोड़े शब्दों में अधिक भाव प्रकट करना आवश्यक है। ऐसी दशा में 'आरंभ', जितना ही संक्षेप में काम चल सके, करना चाहिए। पाठक अपनी कल्पना से काम लेना पसंद करता है। आवश्यकता से

अधिक उसे बतलाना उसका अपमान करना है। वह उसे जानना भी न चाहेगा। कुछ कहानी-लेखकों की यह आदत है कि वे अपनी कहानी के कई टुकड़े कर देते हैं और उन्हें ऐसा 'स्थानान्तर' कर देते हैं कि मध्य को प्रारंभ में, आरंभ को अंत में—अथवा यों ही उलट-पुलट कर देते हैं। यह बहुत बुरा है। प्रारभ में कहानी का आरंभ ही होगा। उलट-पुलट कहानी की स्पष्टता को नष्ट करता है। पाठक कहानी पढ़ने की इच्छा रखता है। उसे 'गोरख-धंधा' सुलझाने की, आपकी 'करामात' देखने की इच्छा नहीं है। यह सब हथकंड़े व्यर्थ और कला-रहित हैं। कहानी का मज़ा कहने और सुनने में है—कहते समय हम कभी 'सूत्र' में गाँठ नहीं लगाते, न यह कहते हैं कि 'भाई, एक बात भूल गयी, पहले उसे सुन लो।' ऐसा करने से सुनने-वाला तो निश्चय अपने दूसरे काम में लग जायगा।

नये लेखकों के विषय में ऐसा देखा गया है कि वे आरम्भ करके कहानी लिख तो चले, पर आगे चलकर उनके पात्र उनके 'बस' के बाहर हो गये। कहानी का रुख कुछ-का-कुछ हो गया। ऐसी दशा में उन्हें कहानी का आरम्भ फिर से ठीक करना चाहिए, नहीं तो वह बेढँगा जँचेगा। मिस्टर फोस्टर कहते हैं—How many stories are spoilt by bad opening !—कितनी कहानियाँ 'अनु-पयुक्त आरम्भ' के कारण बिगड़ जाती हैं। ऐसी दशा में कहानी के आरम्भ का महत्व कभी न भूलना चाहिए।

कहानी का आरम्भ, उसका अन्त, परिणाम वा चरम-सीमा जितना उपयुक्त होना चाहिए, उसी भाँति कहानी का ढाँचा भी उपयुक्त होना चाहिए। परिणाम तो आवश्यक है, पर उस तक पहुँचने का क्रम भी ठिकाने का होना चाहिए। यदि सीधे-सीधे परिणाम पर पहुँच गये तो कहानी का मज़ा ही क्या रहा। आरम्भ से अन्त तक के बीच में कहानी की गति ऐसी होनी चाहिए कि उसका प्रवाह न टूटे। पर साथ-ही-साथ कथानक घूमता-फिरता अड़चनों को पार करता हुआ इस तरह अन्त वा परिणाम पर पहुँचे कि 'परिणाम' फिर महत्वपूर्ण जंचने लगे। घटनाक्रम का साधारण रूप से, आरम्भ से अन्त तक, पहुँचना मात्र कहानी को 'कहानी' कहलाने योग्य नहीं बना देगा। बिना 'संघर्ष वा 'विरोध' के कहानी का मज़ा जाता रहेगा। वह केवल घटनाओं का इतिहास मात्र होगी। इसी दृष्टि से मिस्टर फोस्टर कहते हैं—

'विवाह दो व्यक्तियों के प्रेम का परिणाम है पर केवल 'प्रेम' और 'विवाह' मात्र का वर्णन कर देना तो कहानी नहीं होगी। क्योंकि उसमें कुछ बखेड़ा होना चाहिए। प्रेमासक्त होना और विवाह-बंधन में बँधना—दो घटनाएँ हैं। परन्तु बिना बीच की अड़चन वा विरोधी तत्वों के उसमें विशेषता ही क्या रही। यह तो सभी समझ लेंगे कि 'विवाह' परिणाम होगा। फिर उसे कहानी का रूप देने की आवश्यकता ?'

आगे चलकर आप लिखते हैं—'Without complication the line joining the opening and the end is a straight one, it is like a road which can be seen from end to end, whereas there should be turnings, unexpected views, changes of scenery and the like. In other words, the line of the plot must be diverted atleast once by an opposing cause or opposing causes.'

कहानी के ढाँचे में 'उलझन' रखते समय कई बातों पर ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह है कि 'अड़-चन' विश्वासयोग्य होनी चाहिए। विश्वास-योग्य वस्तु से तात्पर्य यह नहीं कि आप कोई ऐसी बात न लिखें जो वास्तविक जीवन में घटती नहीं, वरन् यह, कि कहानी पढ़ते समय पाठक उसे 'अविश्वास-योग्य' कहकर छोड़ न दे। यदि आपने पाठकों को भुलावे में डालकर असंभव को संभव बना दिया तो भी आप की सफलता आप के हाथ रही।

कहानी-लेखक को चलतू हथकण्डों वा 'आकस्मिक' से बहुत बचना चाहिए। यह नहीं जब आवश्यकता हुई केवल 'ऐसी घटना घटी' का आसरा लेने लगे। जब चाहा, जो चाहा, 'आकस्मिक' के भरोसे कर डाला। जीवन में सारी बातें 'आकस्मिक' के भरोसे नहीं चलतीं। कभी-कभी ऐसा हो भी जाता है। पर यह नियम नहीं वरन् अपवाद है। मिस्टर फोस्टर का मत है—A coincidence is a

literary crime—अर्थात् 'घटना घटाना' साहित्यिक अपराध है।

एक युग था जब 'चमत्कार' का आश्रय लेकर कहानियाँ लिखी जाती थीं। किसी के आशीर्वाद से कुछ हो गया; किसी के शाप से कुछ हो गया। पर ऐसी कहानियों पर लोग अब हँसने लगेंगे। कुछ कहानी-लेखकों की आदत है कि बीच-बीच में कुछ घटनाएँ छोड़ जायँगे, लाँघ कर आगे निकल जायँगे, व्यर्थ असम्बंद्ध विरोधी तत्व घुसेड़ देंगे—ये सब कहानी की सुन्दरता को नष्ट कर देते हैं। कहानी में घटनाओं का क्रम अविश्रृङ्खल और कारण-कार्य के सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए। उसकी गति स्वाभाविक और उसका विकास क्रमिक होना चाहिए।

कहानी में एकाएक कोई बात हो जाना पाठकों को खटक जाता है। यदि पाठकों को आश्चर्य में डालना है तो भी वह ऐसा होना चाहिए कि उसका 'इशारा' पहले ही मिल चुका हो। यह दूसरी बात है कि पाठक ने पढ़ते समय उस पर ध्यान न दिया हो, पर बाद में उसे अवश्य स्मरण आ जायगा और वह उस घटना पर अविश्वास न करेगा। आगे होनेवाली बातों का कुछ-न-कुछ इशारा पहले ही से देना ठीक है। परन्तु 'इशारा' ऐसा न हो कि पाठक आगे आनेवाली सारी बात पहले ही से भाँप जाय और कहने लगे, 'मैं समझ गया—आगे यह होनेवाला है।' यदि ऐसा हुआ तो कहानी 'असफल' हुई।

कहानी का ढाँचा घटनाओं का क्रमिक विस्तार है। समस्त कहानी मानो घटनाओं की सीढ़ी है। यह कहना कठिन है कि परिणाम या मर्मस्पर्शी स्थल तक पहुँचने को कितनी मंजिलें हों—कितनी घटनाएँ हों। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन घटनाओं का विकास ऐसा होना चाहिए कि एक के बाद दूसरा, पहले से अधिक महत्वपूर्ण हो। और 'परिणाम' तक पहुँचने के पूर्व एक ऐसी घटना हो जो परिणाम को मर्मस्पर्शी बना सके।

कुछ लोग पूछते हैं, प्रधान घटना वा 'चरम' कहानी में किस स्थल पर हो? यह बड़ा कठिन प्रश्न है। परन्तु साधारण रूप से यह समझना चाहिए कि जहाँ पाठकों का कुतूहल वा 'अब क्या होगा?' सब से अधिक ज़ोर पर हो वहीं परिणाम आवेगा और उसके पहले वाली घटना 'चरम' होगी। 'चरम' छिपा न होना चाहिए। वह स्पष्ट हो जिसमें पाठक उसे समझ सकें और उसके लिए प्रतीक्षा कर सकें। 'चरम' के पूर्व की घटनाएँ भी संबद्ध होनी चाहिए।

चरम के बाद कहानी का 'रहस्योद्घाटन' तथ्य है। यह भी परिणाम का एक अङ्ग है। परिणाम वा अन्त के पूर्व ही, रहस्य का उद्घाटन होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी लेखक उसे व्यर्थ समझता है। कहानी की परख करने वाले होते हैं उसे पढ़ने वाले पाठक। लेखक को चाहिए कि छपाने के पहले वह अपनी कहानी किसी ऐसे व्यक्ति को

पढ़ने को दे जो आलोचक हो। यदि स्वयं पढ़े, तो उसे आलोचक की आँखों से पढ़ना चाहिए। कहानी में 'संक्षेप' से कहना अच्छा है। विस्तार से दूर रहना चाहिए। 'रहस्य' की व्यंजना कर देना ही काफ़ी होता है।

परिणाम तक पहुँचने पर कहानी समाप्ति पर आ जानी चाहिए, फिर एक शब्द भी उससे आगे न लिखा जाना चाहिए। यदि कुछ और लिखना उचित जान पड़ता है तो समझ लो कि कहानी समाप्ति पर नहीं पहुँची। इसका यह अर्थ है कि कहानी के अंग-प्रत्यंगों में सामञ्जस्य नहीं, और कहानी ठिकाने की नहीं हुई।

कहानी का 'उद्देश' एक होना चाहिए। उसमें व्यर्थ, निरर्थक, गूढ़ वा नीरस बातों को स्थान न मिलना चाहिए। कहानी का अन्त ऐसा होना चाहिए कि उसे पढ़कर पाठक संतुष्ट तो हो ही, साथ ही उसके हृदय पर प्रभाव भी पड़े। कम-से कम उनके मुख से 'वाह' अवश्य निकल आये। इसके लिए लेखक इस बात का प्रयत्न करता है कि अन्त में कोई चमत्कारपूर्ण बात रक्खे। सबसे अधिक प्रचलित अन्त वह होता है जिसमें कोई ऐसी बात होती है जिनका पाठकों को ख्याल भी न था। दूसरा वह जिसमें कहानी शान्तिपूर्वक स्वाभाविक रूप से समाप्त होती है। पहले प्रकार में पाठकों को 'आघात' मिलता है। दूसरे में वे परेशानी के शिकार नहीं होते और फिर कभी बीती घटनाओं पर विचार नहीं करते।

कहानी में चमत्कार लाने के लिए लेखक उसे 'अन्त' के पहले ऐसा 'घुमाव' देता है कि मज़ा आ जाता है। इस कला को सोचने का एक मात्र तरीक़ा है अच्छी-अच्छी कहानियाँ पढ़ना और उनसे सीखना। अन्त में यदि लेखक ऐसे रहस्य का उद्घाटन करता है जिसकी कल्पना पाठक को थी ही नहीं तो उस कहानी का अन्त बहुत प्रभावोत्पादक हो जाता है। परिणाम वा अन्त निरुद्देश्य न होना चाहिए। बिना उद्देश्य के लिखी कहानी निरर्थक वा व्यर्थ होती है।

कथोपकथन आधुनिक कहानी की जान है। इससे कहानी में वास्तविकता आती है। उस प्रकार लेखक 'स्वयं' को कहानी में छिपा रखता है। पुराने युग की कहानियों में लेखक ही सर्वप्रधान रहता था। पाठकों को स्थल-स्थल पर स्मरण आता रहता था कि यह कहानी कोई कह रहा है। परन्तु आजकल तो नाटक की भाँति लेखक, पात्रों द्वारा ही सब कुछ कहलाना चाहता है। इसलिए कथोपकथन पर लेखक को विशेष ध्यान रखना होगा।

कथोपकथन सोलह आने स्वाभाविक होना चाहिए। बातचीत करते समय जैसे दो पात्र अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखते हुए वार्तालाप करते हैं, ठीक उसी तरह उन्हें कहानी में भी आचरण करना चाहिए। इसके लिए लेखक को वास्तविक जीवन का अध्ययन करना चाहिए। उसे लोगों को बातचीत करते सुनना चाहिए, उससे अनुभव

प्राप्त करना चाहिए। कुछ लेखक अपनी कहानी के पात्रों की बातचीत ऐसी बना देते हैं मानो दो 'मुख-मात्र' बोल रहे हों। ऐसी दशा में उनकी बातचीत नीरस और अस्वाभाविक जान पड़ती है और वे पात्र 'सजीव' नहीं हो पाते। आधुनिक युग की कहानियों में यह दोष अक्षम्य माना जाता है।

कथोपकथन में दो व्यक्तियों के शब्दों, वाक्यों के ढाँचे, लहजे, उच्चारण आदि सभी में ऐसा अन्तर होना चाहिए जिससे दो भिन्न-भिन्न पात्रों के व्यक्तित्व से पाठक परिचित हो जायँ। अपनी ओर से भी केवल 'उसने कहा' और 'उसने उत्तर दिया' लिख देना काफ़ी नहीं। इससे तो कहानी शिथिल हो जाती है। अपनी ओर से भी ऐसे विशेषणों और क्रियाविशेषणों का प्रयोग करना चाहिए कि पात्रों की मनोवृत्ति, मानसिक अवस्था पर प्रकाश पड़े, पाठकों की कल्पना में वे मूर्तिमान हो उठें। 'उसने पूछा, उसने कड़क कर उत्तर दिया, वह उत्तेजित होकर बोला, उसने हिचकते हुए उत्तर दिया, वह पूछ बैठा, उसने छूटते ही उत्तर दिया'— आदि प्रकार यदि लिखा जाय तो कहानी में सजीवता आती है, उस पर वास्तविकता का रङ्ग चढ़ता है।

यदि देखा जाय तो हम लोगों में से शायद ही सौ में चार ऐसे हों जो बातचीत में लम्बे-लम्बे वाक्य प्रयोग करते हों, पर लेखक, कथोपकथन में ऐसा क्यों करता है ? यह

उसका दोष है। छोटे-छोटे वाक्योंवाला कथोपकथन स्वाभाविक जान पड़ता है। उससे प्रभाव भी पड़ता है। यदि कभी 'पात्र' को 'स्वगत' भी कुछ कहना हो तो भी उसकी भाषा में स्वाभाविकता रखनी चाहिए। 'स्वगत' में भी पात्र असाधारण नहीं हो जाता। वह बात करता है—अपने से। यह भी बातचीत ही हुई।

कहानी में विधि विधान! लोग पूछेंगे 'विधि-विधान' से क्या तात्पर्य? और कहानी-कला से इसका सम्बन्ध? बात यह है, प्रकृति के रहस्यों को समझना और उन्हें अपने काम में लाना ही 'मनुष्य' के विजय की चरम सीमा है। 'कला'—प्रकृति की मनुष्य-कृत कृति है। जीवन में कितनी ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जिन पर हमारा बस नहीं। होने को कुछ, होता है कुछ। महाराज दशरथ राम को युवराज पद देने की तैयारी करते हैं और राम को मिलता है, बनवास! इसी पर तुलसीदास ने लिखा—

'लिखित सुधाकर लिखिगा राहु।'

इन्हीं घटनाओं को हम 'विधि-विधान' कहते हैं। लेखक इस प्रकार की प्रकृति की चेष्टाओं को अध्ययन कर अपनी रचनाओं में उनका उपयोग करता है। उसकी 'सृष्टि' इन्हीं प्राकृतिक चेष्टाओं के 'आचरण' के अध्ययन के आधार पर कलात्मक होती है। कहानी लेखक को अपनी रचना में 'सत्य' का रूप खड़ा करना होता है। इस 'सत्य' को स्वाभाविक बनाने के लिए उसे सभी प्रकार

को प्रवृत्तियों की जानकारी रखनी होती है। यहाँ हम केवल एक ही प्रवृत्ति 'विधि-विधान' का उपयोग बतलाते हैं।

'विधि-विधान' की परिभाषा करना कठिन है पर उसे इस प्रकार समझिए। जिस समय घटनाओं का आचरण ऐसा होने लगे मानो 'अदृष्ट' कुटिलता-पूर्वक उनसे खेल रहा हो। हम आशा करते हैं कुछ, और होता है उसके विपरीत। ऐसे अवसर पर हम उसे 'विधि-विधान' कहेंगे। हम भारतीय भाग्यवादी हैं, अन्यथा 'विधि' शब्द को छोड़कर हम विधि-विधान के लिए कोई दूसरा पर्याय सोचते।

'विधि-विधान' का आश्रय लेकर कहानी-लेखक अपनी कहानी में अच्छा चमत्कार ला सकता है। प्रायः दुःखान्त कहानियों में तो 'विधि-विधान' के भरोसे गहरी ट्रेजेडी बनाई जा सकती है। उदाहरण के लिए यहाँ दो प्लाट देते हैं :—

( १ ) एक दम्पति का हाल ही में विवाह हुआ था। दोनों एक दूसरे को प्रसन्न करने की बात सोचते हैं। बड़े दिन का त्योहार निकट आता है। पति-पत्नी एक दूसरे को उपहार देना चाहते हैं। पति के पास घड़ी है पर चेन नहीं। पत्नी सोचती है उसे चेन खरीद दूँ। पत्नी के बाल बहुत सुन्दर हैं। पति सोचता है उसके लिए सुन्दर कंघी खरीद दूँ। दोनों ग़रीब हैं। पैसे की कमी है। पति अपनी भार्या को उपहार देने के लिए छिपा-

कर घड़ी बेच देता है और कंघी ख़रीदता है। पत्नी अपने सुन्दर बाल चुपके से काटकर बेच डालती है और चेन ख़रीद लाती है। दोनों उपहार पाकर दुखी होते हैं।

इस सुन्दर प्लाट पर ओ० हेनरी नामक प्रसिद्ध कहानी लेखक ने कहानी लिखी है।

( २ ) एक महिला नानबाई के यहाँ नौकर है। एक चित्रकार ( ग्राहक ) बासी रोटियाँ ख़रीद कर ले जाता है। माहिला उसे ग़रीब समझकर उस पर दया करने लगती है। सहानुभूति से प्रेरित होकर वह उसकी मदद करना चाहती है। उसने एक दिन बासी रोटी के भीतर मक्खन छिपाकर दे दिया। उसने अपनी समझ से उस चित्रकार की भलाई की थी, परन्तु हुआ उसका उलटा। बेचारे का सवनाश हो गया। कैसे ?

चित्रकार एक सुन्दर इमारत का नक़शा बना रहा था। उसे वह प्रतियोगिता में भेजनेवाला था। उसे आशा थी कि उसे एक भारी इनाम मिलेगा। रोटियों के टुकड़े से वह अपने नकशे पर के पेन्सिल के निशान मिटाता था। नक़शा क़रीब क़रीब तैयार हो गया था। उसे भेजने की अवधि भी दूसरे ही दिन थी। अन्तिम दिन उसने जो उस रोटी से उसे साफ़ करना चाहा तो उसमें भरा हुआ मक्खन चित्र पर लग गया। सारा नक़शा ख़राब हो गया। बेचारे की सारी मेहनत और आशा नष्ट हो गयी।

ऊपर के दोनों प्लाट दुःखान्त हैं, पर दोनों में अन्तर

है। एक का परिणाम उतना दुःखान्त नहीं जितना दूसरे का। एक में दम्पति का एक दूसरे के प्रति आकर्षण बढ़ता है। दूसरे में दोनों के बीच उलटा वैमनस्य उत्पन्न होता है।

'विधि-विधान' का आश्रय लेकर 'सुखान्त' प्लाट भी बनाये जा सकते हैं। यदि परिणाम हानिकारक न हो तो वह सुखान्त होगा। सुखान्त और दुःखान्त में मुख्य बात मनोरथ का पूर्ण वा अपूर्ण होना है। सुखान्त का एक उदाहरण लीजिए। ओ० हेनरी की एक कहानी है—

एक कैदी जेल से छूटकर दुखी रहता है। सर्दी में उसे बाहर कष्ट होगा। खाने-पहनने को उसके पास धन नहीं। कोई काम मिलने की आशा नहीं। इसलिए वह सोचता है, कोई अपराध करे जिसमें शीघ्र जेल भेज दिया जाय। चारों तरफ भटकता है। अपराध करने का अवसर नहीं मिलता। कोई उसे गिरफ़्तार नहीं करता। अन्त में वह अपना विचार बदल देता है। भले आदमी की तरह रहना चाहता है। घूमते-घामते वह गिरजे के सामने पहुँचता है। प्रार्थना हो रही है। वह बाहर खड़ा होकर सोचने लगता है—'जीवन' में कुछ है नहीं। मनुष्य को धर्म करना चाहिये।' इसी विचार में मग्न वह खड़ा रहता है। इसी बीच पुलिस उसे इस अपराध पर गिरफ़्तार कर लेती है कि उसका इरादा ख़राब था। वह प्रसन्नतापूर्वक जेल चला जाता है।

इस प्रकार 'विधि-विधान' का आश्रय लेकर यदि हम

चाहें तो बहुत से सुन्दर प्लाट बना सकते हैं। कहानी-कला के इन अङ्गों पर ध्यान देना चाहिए।

. कहानी में अनेक दोष होते हैं। उनमें 'व्यर्थ' भी एक भारी दोष है। 'व्यर्थ' से हमारा तात्पर्य उन अप्रासंगिक वर्णनों से है जिनके बिना कहानी 'पूरी' रह सकती है। कहा जाता है साहित्य जीवन की व्याख्या है। इसे सत्य मानते हुए हम कहानी को जीवन की सच्ची झाँकी कहेंगे, यद्यपि यह झाँकी उपन्यास की भाँति सम्पूर्ण वा सर्वाङ्गपूर्ण न होकर एकांगी कही जायगी। यदि उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्र माना जाय तो कहानी एक स्नैप-शाट् वा एक 'मुद्रा' का चित्र।

कहानी-लेखक और इतिहासकार दोनों का काम घटनाओं का शृङ्खला-बद्ध लेखन करना होता है। पर दोनों में महान् अन्तर है। इतिहासकार सभी घटनाओं का चयन करेगा, पर कहानी-लेखक केवल उन्हीं को चुनेगा जो उसके काम की हों। इतिहास और कहानी में यही अन्तर है। एक का उद्देश्य केवल घटनाओं का कालक्रम से सविस्तार वर्णन, तथा कारण और कार्य का सम्बन्ध दिखलाना है। परन्तु कहानी में केवल उद्देश्य विषय को प्रमाणित करने के हेतु केवल आवश्यक घटनाएँ चुनी जाती हैं। एक में उद्देश्य प्रधान होता है दूसरे में 'उद्देश्य' अनुपस्थित रहता है।

कुछ कहानी-लेखकों का मन्तव्य है कि वर्णन करते समय विषदता में जाना उचित है। इस हेतु वे जब किसी विषय को उठाते हैं तो उनकी तह तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। वे उस समय यह भूल जाते हैं कि वे अपने 'लक्ष्य' के भूल कर 'व्यर्थ' के फेर में पड़ जाते हैं। पाठकों का उन्हें ध्यान नहीं रहता। पाठक कहानी आरम्भ कर उसका 'अन्त' जानने के लिए अधिक उत्सुक रहता है। उसे यदि मार्ग में आप भटकाने लगेंगे तो वह झुंझला जाता है। वास्तविक जीवन में अगणित वस्तुएँ हैं, पर हमारा ध्यान उन्हीं पर जाता है जिनका हमारे आत्म वा स्वार्थ से सरोकार है। इसी प्रकार कहानी में हम केवल वही जानना चाहते हैं जिनका निकट और सद्यः सम्बन्ध हो। वास्तविक जीवन का चित्र कला-पूर्ण चित्र नहीं। मिस्टर विलियम कहते हैं—All art is a matter of selecting the essentials and neglecting the non-essential—अर्थात् कला, आवश्यक का चयन और अनावश्यक वा व्यर्थ का निराकरण है। वास्तविक जीवन निश्चय कला पूर्ण नहीं। इसी हेतु कहा गया है कि आख्यान वा कथा-साहित्य किसी अंश में जीवन का तद्रूप होते हुए भी, अधिक अंश में उससे बहुत विभिन्न है। कहानी में उतना अंश अवश्य जीवन से समानता रखता हुआ हो जितने से पाठक उसे अविश्वसनीय और अस्वाभाविक न समझें। इससे अधिक 'साम्य' कला नहीं रह जाता,

वरन् उपहास्य नकल बन जाता है। यह कार्य कलाकार को 'नक्काल' बना देता है।

कहानी-लेखन-कला की प्रायः समस्त बातें स्थूल रूप से हो चुकीं। फिर भी कुछ ऐसी बातें शेष हैं जिन्हें जान लेना काम देगा। पहली बात तो यह है कि कहानी लिखने के पहले लेखक उसे अपने मन में इतना सोच ले कि सम्पूर्ण कहानी 'सत्य' के समान हो उठे। उसे अपने पात्रों, कथानक की सच्चाई, देश और काल की यथार्थता में विश्वास करना चाहिए। यदि कहानी-लेखक को वह असत्य और असम्भव जान पड़ी तो पाठकों को वह कैसी लगेगी? चाहे जो लिखें—सम्भव वा असम्भव, स्वाभाविक वा अस्वाभाविक, पर वह ऐसी हो कि वह विश्वासयोग्य हो। और इस हेतु पहले स्वयं उस पर विश्वास करना चाहिए।

लेखक को इसका प्रयत्न करना चाहिए कि उसका पाठक उसके साथ बराबर रहे। उसे अपने पाठक को कुछ सोचने वा खोजने अथवा भटकने का अवसर न देना चाहिए। जब तक वह कहानी पढ़े उसकी सारी चिन्ता, ध्यान लेखक के साथ रहना चाहिए। यही कहानी की सफलता है कि आप पाठक को अपने साथ, आदि से अन्त तक घसीट सकें।

कहानी की श्रृङ्खला पर बहुत ध्यान देना चाहिए—कहीं टूटने न पावे। नये लेखकों को इसी लिए उन्हीं विषयों पर लिखना चाहिए जिनसे वे अच्छी तरह परिचित

हों, नहीं तो उनकी कहानी बीच-बीच में उखड़ जायगी। अभ्यास हो जाने पर वे अपनी कल्पना से पूरा कथानक तैयार कर लेंगे। यह न सोचना चाहिए कि कहानी के लिए विषय कोई बड़े मार्के का ढूँढ़ना चाहिए। केवल मार्के का विषय वा कथावस्तु कहानी को अच्छी नहीं बना सकता। कहानी की सफलता कहानी के लिखने और कथा-नक के निर्वाह में है।

कहानी दो तरह से लिखी जाती है। एक में लेखक स्वयं उसका प्रधान पात्र होता है और 'मैं' रूप में लिखता है। दूसरे में वह अन्य पुरुष, होकर दूर खड़ा हुआ, पाठकों को सारी बातें बतलाता है। पहली प्रकार की शैली में आज़ादी कम मिलती है। दूसरे में बहुत अधिक। इसमें लेखक आवश्यकतानुसार अपनी ओर से बहुत कुछ समझाता रहता है। इससे कहानी, पाठकों को ख़ूब स्पष्ट हो जाती है। यही सब से अच्छा तरीक़ा है।

कहानी के भीतर अन्तर-कहानी रखने का तरीक़ा पुराना है। अब भी कभी-कभी यह चलता है, पर ऐसी दशा में इसका ध्यान रखना चाहिए कि आरम्भ की कहानी और बाद की कहानी दोनों में कोई सम्बन्ध अवश्य हो, सारी-की-सारी कथा का प्रभाव एक हो। इस शैली में बहुत बन्धन हैं। लेखक आज़ादी से सब कुछ कह नहीं सकता। इसी लिए लोग ऊपर का दूसरा तरीक़ा ही बहुत पसन्द करते हैं।

अन्य पुरुष होकर जब कहानी लिखे तो उस समय लेखक को कहानी के किसी एक पात्र के साथ अपना दृष्टि-कोण मिला लेना चाहिए। इस तरह कहानी का समूचा प्लाट एक दृष्टिकोण का हो जायगा और पाठक उस दृष्टि-कोण से उसका आनन्द उठा सकेगा, अन्यथा समस्त कहानी केवल 'वर्णन' मात्र प्रतीत होगी और उससे पाठकों की सहानुभूति न होगी।

कहानी में बहुत न लिखे। पाठकों को इशारा देना काफ़ी है। वे समझदार और कल्पनाशील व्यक्ति होते हैं। लेखक को चाहिए कि अपनी कहानी में अपनी नैसर्गिक रुचि और मौलिक व्यक्तित्व की छाप अवश्य रखे। कहानी लिखना और सफलतापूर्वक लिखना, लेखक की प्रतिभा और व्यक्तिगत शक्ति पर निर्भर है। साधारण रूप से कहानी-लेखन-कला की आवृत्ति उसे केवल इसमें सहायक हो सकती है कि वह स्थूल रूप से कहानी के दोष जाने, उसके साधारण सिद्धान्त जाने, जिससे वह भद्दी भूलें न करे। कहानी-लेखक को एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिए। वह यह है कि उसका उद्देश्य पाठकों का मनो-रंजन करना है, और यदि वह अच्छी तरह यह कर सका तो वह सफल हुआ।

सभ्यता के इस युग में यह कहना भूल है कि मनुष्य परिश्रम से कुछ प्राप्त नहीं कर सकता। नैसर्गिक प्रतिभा का विकास तो तभी होगा जब हम परिश्रम करेंगे। बिना

प्रयत्न हम कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकते। यदि कहानी-लेखक बनना है तो परिश्रम करना होगा, अच्छी, चुनी हुई, कहानियाँ पढ़नी होंगी, उनकी विशेषताओं का मनन करना होगा, लिखने का अभ्यास करना होगा—फिर कहीं सफलता प्राप्त होगी। यह दूसरी बात है कि आप लाखों में एक न हो सकें, पर आप 'असफल' नहीं कहला सकते—यह निश्चय है।

यदि कोई व्यक्ति—बूढ़ा, जवान वा बच्चा—कहानी कह सकता है तो वह निश्चय लिख भी सकता है। उसे लिखना जानना चाहिए। जिसमें वर्णन करने की शक्ति है, जो प्रभावोत्पादक रूप से कुछ कह सकता है, सोच सकता है, गढ़ सकता है, वह कहानी अवश्य लिख सकता है। उसमें शक्ति है—केवल थोड़ा अभ्यास करना होगा।

पहले अपनी योग्यता की परीक्षा लेनी चाहिए। यदि आप में कहानी के प्रति अभिरुचि है तो फिर अभ्यास कीजिए। पढ़िए, समझिए, सोचिए, लिखिए और तब तक लिखिए जब तक आप की कहानी पढ़ने योग्य न बन जाय। अपनी रचना के प्रति 'राग' से मुक्त होना सीखें। उसकी आलोचना—और निष्पक्ष आलोचना करना सीखें, फिर सारी कमी मालूम हो जायगी। आप उसे दूर कर सकेंगे।

एक बात और है। आरम्भ से ही कलाकार कहलाने की फिक्र में मत रहिए। यह शब्द हिन्दी में बड़ा अनर्थ कर रहा है। यदि आपकी कहानी बहुत संख्या में पाठक

पढ़ते हैं, उससे उनका मनोरंजन होता है, उनमें सुरुचि जागृति होती है—तो आप बुरे नहीं। 'कलाकार' की पदवी लेकर दो-चार मित्रों को स्वयं अपनी रचना पढ़कर सुनाते फिरना, फिर किसी साहित्यिक बनने का स्वाँग रचने वाली पत्रिका में उसे छपा कर, उसके पृष्ठों में उसे सदा के लिए दफ़न कर देना—क्या आप पसन्द करेंगे ?

## ८—उपन्यास-रचना

लेखकों की शिक्षा की बात उठाइए तो तुरन्त लोगों की कल्पना में स्कूली छात्रों की शिक्षा का कार्य-क्रम मँडराने लगता है। और वे इस विचार की हँसी उड़ाने लगते हैं। यह सत्य है कि लेखकों के लिए शिक्षा-लयों की भाँति पाठ्य-क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता और न वर्तमान शिक्षा-पद्धति के अनुसार कुछ निश्चित वर्षों में उपन्यास, कविता, गल्प वा अन्य उत्पादक साहित्य के सफल लेखक ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। फिर भी यदि हम लेखकों की शिक्षा की समस्या को केवल यह कह कर उड़ा देना चाहें कि 'कलाकार स्वयंभूत होते हैं, बनाये नहीं जाते'—तो निश्चय हम एक पुरानी कहावत की आड़ लेकर लेखकों की शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने में आनाकानी करते हैं।

यह मानने की बात है कि लेखक अपनी प्रतिभा लेकर जन्म लेता है, परन्तु केवल इतने से कोई सफल लेखक नहीं बन जाता है। उसे संयमपूर्वक कुछ काल तक अपनी कला का अभ्यास करना पड़ता है। प्रस्तुत लेख में हम 'उपन्यास-रचना' के विषय पर विचार करेंगे। हमें यह देखना है कि उपन्यास-लेखक को कितना अभ्यास करने की आवश्यकता है। और क्या उपन्यास लिखना केवल 'प्रतिभा' के भरोसे छोड़ा जा सकता है ?

सर गिल्बर्ट कहते हैं—उपन्यास लिखना सीखा जा सकता है, परन्तु यह सिखाया नहीं जा सकता। यह ऐसा व्यवसाय है जो लेखक की रुचि और अभ्यास से अधिक संबन्ध रखता है और उसी पर उसकी सफलता निर्भर है। किसी नये लेखक को ठोंक-पीट कर उपन्यासकार नहीं बनाया जा सकता। परन्तु एक प्रतिभावान, चतुर नव-सिखुए लेखक को निश्चय वे बातें बतलाई जा सकती हैं जिनके सहारे वह अपनी कला में कुशलता और सफलता प्राप्त कर सकता है। चाहे जो भी काम हो—सब में कुछ दिनों के अभ्यास की आवश्यकता होती है। हाँ, यह सत्य है कि साहित्य-संबन्धी कला में उन साधनों का आधार उतना महत्वपूर्ण नहीं है। यह स्पष्ट है कि अच्छे औज़ारों की सहायता से एक मूर्तिकार अच्छी मूर्ति बना सकता है; परन्तु अच्छी लेखनी और अच्छा काग़ज़ किसी लेखक की रचना को सुन्दर नहीं बना सकता। यही कारण है कि

लिखने पढ़ने का व्यवसाय अंगीकार करने में प्रथम अधिक कठिनाई नहीं प्रतीत होती। परन्तु जितनी ही सुविधा आरम्भ में है उतनी ही कठिनाई उसमें सफलता प्राप्त करने में है। कारण स्पष्ट है कि साहित्य रचना में, लेखक का अपना व्यक्तित्व, प्रतिभा, अभ्यास ही प्रधान अंग हैं। और इसी हेतु लेखक की कला कठिन और अधिक महत्व की मानी जाती है। अस्तु।

उपन्यास-लेखक को आरम्भ में ही इसे सीखना आवश्यक है कि वह जीवन का प्रत्यक्षीकरण कैसे करे। फिर अपने अनुभवों के परिणाम का उपयोग करना उसे सीखना है। उसे कल्पना से काम लेने का अभ्यास करना होगा। अपनी कल्पना से उद्भूत चित्रों को लिपिबद्ध करने की कला सीखनी होगी। उसे अपने उपन्यास के लिए 'कथा-वस्तु' के ताने बाने को ऐसी कुशलता से बुनना सीखना होगा जिसमें उसका बुना हुआ 'कथानक' कला-पूर्ण हो। अपने उपन्यास में व्यक्तित्व की छाप देने के लिए उसमें मौलिकता भी लानी होगी, क्योंकि यदि यह न होगी तो उसकी रचना में कोई नवीनता न रहेगी—वह फिर उसकी अपनी वस्तु कैसे कही जायगी? इसके अतिरिक्त उसे अपने 'पात्रों' को सजीव बनाना होगा। उनके कथोप-कथन की गति का ऐसा नियंत्रण करना होगा कि धीरे धीरे कथा का विकास होता चले और उसमें शिथिलता न आवे—उसे पढकर पाठक ऊबें नहीं। उसे अपने उपन्यास

के अंग-प्रत्यंग में सुडौलता और सौन्दर्य लाने का अंदाज़ सीखना होगा, जिससे वे भद्दे और बेढंगे न हो जायँ। उसे इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उसके पूर्ण उपन्यास को पढ़ते समय पाठक बराबर उसके साथ रहें—उनका ध्यान बराबर उसे पढ़ने में लगा रहे।

उपरोक्त सारी बातें यदि हम 'जन्मसिद्ध प्रतिभा' के भरोसे छोड़कर बैठ जायँगे तो निश्चय एक ही दो स्वयं-भूत उपन्यासकार दिखाई पड़ेंगे। ऐसे सिद्धान्तों से काम नहीं चलेगा। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संसार की समस्त कलाओं के विकास और प्रचार में अभ्यास का ही प्रधान हाथ रहा है; अन्यथा उन कलाओं के जाननेवाले फिर एक ही दो दिखाई पड़ते। अतः, इस युग में 'अभ्यास' की उपादेयता का उपहास नहीं किया जा सकता। इ० एफ० बेनसन का कहना है कि उपन्यासकार के लिए केवल दो बातें (विशेषताएँ) होनी अपेक्ष्य हैं। एक तो मार्के की बातों को प्रत्यक्षीकरण करने की शक्ति, और दूसरे उन्हें सीधी-सादी भाषा में लिपिबद्ध करने की क्षमता। दोनों बातें परिश्रम और अभ्यास से प्राप्त हो सकती हैं। यदि लेखक जीवन में होने वाली घटनाओं में से आवश्यक ( महत्वपूर्ण ) और अनावश्यक ( साधारण ) में विभेद करना सीख जाय, यदि वह ऐसी घटनाओं को चुन सके जिनके आधार पर अच्छा 'रूपक' रचा जा सकता हो तो उसे उपन्यासकार होते अधिक कठिनाई न होगी।

अब प्रश्न होता है। उपन्यास क्या है ? उसमें कौन-कौन सी विशेषताएँ आवश्यक हैं ? उपन्यास की परिभाषा लेखक के दृष्टिकोण से अधिक काम की नहीं। परन्तु उससे 'लेखन-कला' के लिए काम की जानकारी उपलब्ध हो सकती है। हेनरी जेम्स का कथन है कि उपन्यास उसके लेखक के शब्दों में जीवन की उसकी अपनी व्याख्या है। उसका महत्व दूसरों के लिए उसी मात्रा में होगा जिस मात्रा में उन पर उसका प्रभाव पड़े। कुछ लोगों का मन्तव्य है कि उपन्यास का धर्म पाठकों का मनोरंजन करना है। अब यहाँ यह स्पष्ट है कि उपन्यास की सफलता में 'पाठक' एक आवश्यक अंग है। राल्फ़ स्ट्रास इसीलिए कहते हैं, 'साधारण पाठक उपन्यास में क्या चाहता है ? मेरी तो धारणा है कि उपन्यास, लेखक के अपने शब्दों में लिखा हुआ होना चाहिए—यह नहीं कि वह केवल घटनाओं की रिपोर्ट देता जाय। अच्छे लेखक को अपने उपन्यास में अपनी व्याख्या देनी चाहिए, अपने व्यक्तित्व का उद्घाटन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मैं चाहता हूँ कि उपन्यास-कार मुझे ऐसे काल्पनिक लोक की सैर करावे, जहाँ की वस्तुएँ मुझे असम्भव न प्रतीत हों—असत्य न भासित हों। इससे यह मतलब नहीं कि वे हमारे निजी अनुभव में आई हैं वा नहीं। अंतिम बात मैं उपन्यास में यह चाहूँगा, कि उसमें ऐसी कथा हो जिसे पढ़ते समय मेरा मन न ऊबे, मेरा ध्यान न बँटे। मैं उसे आदि से अन्त

तक एक उत्साह से पढ़ सकूँ। संक्षेप में अब उपन्यासकार का पाठकों के प्रति धर्म स्पष्ट हो जाता है।'

अब तनिक लेखक की बात सोचनी है। फ्रैंक नोरिस एक प्रसिद्ध लेखक हैं। आपका कहना है—'उपन्यासकार को अपनी रचना को इस रूप में उपस्थित करना चाहिए कि वह पाठकों की भी समझ में आवे। उसे प्रथम अपने पद को ध्यान में रखकर लिखना चाहिए, अपनी मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। उसे अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखना चाहिए—उसे चाहिए कि अपने अनुभवों के आधार पर ऊँचे सिद्धान्तों की सृष्टि करे। साथ-ही-साथ उसे 'विचारों' के महत्व को अधिक प्रधानता न देनी चाहिए। उसे अपने पात्रों के प्रति द्वेष वा घृणा न रखनी चाहिए। उसे इसका ध्यान रखना चाहिए कि उसके उपन्यास के पात्रों की बात-चीत तथा आचरण सच्चा और स्वाभाविक हो।'

उपन्यासकार का पहला धर्म है पाठकों का मनोरंजन करना, जिसमें वे उसका उपन्यास आरम्भ कर बिना समाप्त किये न छोड़ें। आर्नल्ड बेनेट भी उसी हेतु कहते हैं कि उपन्यासकार का लक्ष्य होना चाहिए अच्छी कहानी कहना, और उसके लिए थोड़े-से-थोड़े साधनों को काम में लाना। ये सब बातें यदि सीखी न जायँगी तो केवल 'जन्मसिद्ध प्रतिभा' से काम न चलेगा। यदि लेखक ध्यान दे कर अभ्यास करे तो वह कथा-वस्तु की बहुत सी घटनाओं को

सुचारु रूप से यथास्थान रखना. अपने पात्रों को सजीव रूप से आचरण कराना आदि सीख सकता है। अब यह प्रश्न सामने आता है कि उपन्यास रचना की इच्छा रखने वाले लेखक ये सारा बातें कहाँ सीखें ?

यह हम पहले कह चुके हैं कि लेखकों की शिक्षा के लिए स्कूल और कालिजों से काम नहीं चलेगा। एक प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि विश्वविद्यालय की किसी प्रकार की शिक्षा वा भाषा-ज्ञान उस व्यक्ति के काम की नहीं, जो समाज में अपने आस-पास के स्त्री-पुरुषों का मनोरजन करना चाहता है। उपन्यासकार को विचारों से काम लेना चाहिए। चिन्तन, कल्पना और अन्वीक्षण ही उपन्यासकार के लिए उपयोगी वस्तुएँ हैं। इनके अतिरिक्त उसमें जन-समाज के सुख-दुख के प्रति नैसर्गिक सहानुभूति होनी चाहिए। ये सारी बातें आधुनिक शिक्षालयों के पाठ्यक्रम और शिक्षण-पद्धति के परे की बातें हैं। यदि उपन्यासकारों में देखा जाय, तो उनमें कितने ऐसे सफल उपन्यासकार मिलेंगे जिनकी शिक्षा बिल्कुल साधारण थी। जे० डी० ब्रेसफ्रोर्ड तो इस पर दुख प्रगट करते हैं कि वर्तमान युग के महान् लेखकों को देखकर तो शिक्षालयों की शिक्षा में विश्वास करना कठिन है। वर्तमान युग के महान् लेखक एच० जी० वेल्स ने साधारण शिक्षा ही ग्रहण की थी। भारत के स्वनाम-धन्य लेखक टैगोर के विषय में यही कहा जाता है। अब यह निश्चय हो जाता

है कि साहित्यकार के लिए स्कूल-कालिज की शिक्षा विशेष उपयोग की नहीं। अतः, उपन्यासकार को अपनी कला का ज्ञान स्वयं अर्जन करना होगा। उसका अपना व्यक्तित्व, अपनी व्याख्या, अपनी विचार-शैली तथा कल्पना और दृष्टिकोण आदि ही उसकी कला को सफल बनाने में सहायक होंगे।

उपन्यासकार बनने की इच्छा रखने वाले लेखक को सर्वप्रथम इस बात को अपने मन से निकाल देना चाहिए कि वह अपने परिश्रम से कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता, और उसे अपनी कला में सफल मनोरथ होने के लिए 'ईश्वरी देन' की प्रतीक्षा करनी होगी, फिर उसे अपने उपन्यास के लिए कथा की खोज करनी चाहिए।

उपन्यास में 'कथा-वस्तु' प्रधान अंग है। उसे किस प्रकार कहा जाय, यद्यपि यह भी आवश्यक है—पर उतना नहीं। जिस उपन्यास में 'कथा' ही नहीं वह लेखक की 'शैली' के भरोसे रुचिकर नहीं बनाया जा सकता। अब 'कथा' के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल एक-दो घटनाओं के आधार पर उपन्यास नहीं खड़ा किया जा सकता। उपन्यास का चित्र विस्तृत होता है। उसमें जीवन की विस्तृत व्याख्या होनी चाहिए। उसमें अनेक घटनाएँ, विविध परिस्थितियाँ, अनेक वातावरण होंगे। परन्तु सभी एक सूत्र में बँधे हुए—एक ही परिणाम पर पहुँचने वाले।

उपन्यास लिखते समय पहले इसे देखना चाहिए कि हमें किस पर लिखना है ? हमारे पात्र कौन होंगे ? वे कैसा आचरण करेंगे ? एक आलोचक इसलिए कहता है कि 'लेखक की असफलता का कारण प्रायः उसका अपने 'विषय' का अज्ञान होता है। जितनी ख़राबी इसके कारण होती है, इससे कम इसके कारण कि वह लिखना नहीं जानता। अतः लेखन-शैली की प्रौढ़ता के पहले हमें यह जानना चाहिए कि हम किस पर लिखें ? हम कैसे लिखें— यह इसके बाद का आवश्यक ज्ञान होगा।'

हम किस पर लिखें ? इसकी खोज के लिए यथेष्ट साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता है। यदि उपन्यास लिखना है तो प्रसिद्ध उपन्यासों को पढ़ना चाहिए। जहाँ से अच्छे-अच्छे उपन्यास मिलें उसे अच्छी तरह पढ़ना चाहिए। परन्तु यह अध्ययन दूसरे प्रकार का होगा। उपन्यास-लेखक और साधारण पाठक में यही अन्तर है कि साधारण पाठक उसे अपने मनोरंजन के लिए पढ़ता है परन्तु उपन्यास लिखने की इच्छा रखने वाला उसे इस दृष्टि से पढ़ता है जिसमें वह लेखक की कला-कुशलता से परिचय प्राप्त करे। उसे आलोचक की आँखों से पढ़ना होता है। इसी हेतु, सर मैक्स पेम्बरटन नव-लेखकों को उपदेश देते समय कहते हैं—'ढूँढ़-ढूँढ़ कर अच्छे उपन्यास पढ़ो, प्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाएँ तो निश्चय पढ़ो। इसके पश्चात् उन में से जो लेखक तुम्हें पसन्द

आवें उनका अनुकरण करो।' यहाँ एक शंका होती है कि उपन्यास नये वा पुराने पढ़े जायँ? इसका सीधा उत्तर यही है कि वर्तमान साहित्य की प्रगति से निकटतम प्राचीन उपन्यास पढ़े जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हमें उसी वस्तु को देखना है जिसका उपयोग हम इस युग में कर सकें। जिसकी शैली अब अचलित हो चुकी है, जिनकी कल्पना और विचार-पद्धति अब लोग नहीं पसन्द करते, उसे पढ़कर व्यर्थ समय नष्ट करना होगा।

अपनी रुचि के उपन्यास की शैली पर, नवसिखुए लेखक को पहले अपने उपन्यास का ढाँचा खड़ा करना चाहिए। यद्यपि यह 'नक़ल' होगी पर यह तरीक़ा राबर्ट लुई स्टिवेन्सन ऐसे आचार्यों ने भी अच्छा समझा है। प्रायः सभी अच्छे, नामी उपन्यासकारों ने अपना आरम्भ इसी प्रकार किया था। किसी ने पूछा था कि क्या केवल पढ़ने मात्र से उपन्यास लिखना आ जायगा? इसके उत्तर में यह कहा गया था कि केवल उपन्यास पढ़कर उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। हमें दुख से कहना पड़ता है कि हिन्दी में अधिकतर उपन्यास, उपन्यास पढ़कर ही लिखे जा रहे हैं। इसी कारण हिन्दी उपन्यास की श्रेष्ठता संदिग्ध रहती है और वे उतने अच्छे नहीं होते जितने भारत के अन्य भाषाओं के उपन्यास। उपन्यास पढ़कर लेखक को इसका अध्ययन करना होता है कि अच्छे-अच्छे लेखकों ने किस प्रकार सोचा है। उन्होंने कौन सी वस्तु कैसे, कहाँ पर

रक्खी है। उन्होंने अपने विचार कैसे प्रकट किये हैं। संक्षेप में, हमें उपन्यास पढ़कर सफल उपन्यासकार की शैली से परिचय प्राप्त करना होता है। उसकी कला का साक्षात् करना होता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि केवल पढ़कर उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। इसके अतिरिक्त लेखक को वास्तविक जीवन का अनुभव भी करना चाहिए, उस का प्रयोग सीखना चाहिए। अपने अनुभव की वस्तु—ज्ञान—सदा उत्तम होता है। इसी कारण कुछ लोगों ने उपन्यास-लेखक की आयु निर्धारित की है। कुछ लोगों का मन्तव्य है कि प्रौढ़ता प्राप्त करने पर ही उपन्यास लिखने की चेष्टा करनी चाहिए। देखा गया है कि लोगों ने साठ वर्ष के ऊपर होकर लिखना आरम्भ किया है और सफल लेखक हुए हैं। इसी तरह तेरह वर्ष की आयु में भी कुछ लोग सफल उपन्यासकार हो चुके हैं। ऐसी दशा में उपन्यासकारों के लिए कोई एक आयु नहीं निश्चित की जा सकती। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि जिसका जितना अनुभव होगा, वह उतना ही अच्छा लेखक होगा। साधारणता लोग तीस वर्ष की आयु में उपन्यासकार की सफलता मानते हैं। एच० जी० वेल्स का दृढ़ विश्वास है कि प्रौढ़ होने की आयु से पूर्व कोई सफल उपन्यासकार नहीं हो सकता। उनका तर्क है—

"Work essentially imaginative, or essentially superficial, a man of twenty or thirty may do

quite as well as a man of forty. Romance of all sorts, the fantastic story, the idealistic novel, even novel of manners, these are the works for the young perhaps, even more than the old. But to see life clearly and whole, to see and represent it with absolute detail, with absolute justice, adove all with evenly balanced sympathy, is an ambition permitted only to a man full grown."

सारांश यह कि जीवन का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर ही उपन्यास-लेखक सफल लेखक हो सकता है। व्यवहार में देखा गया है कि प्रायः सफल उपन्यासकारों ने तीस वर्ष की आयु में उपन्यास-रचना प्रारम्भ की है। आर्नल्ड बेनेट ने अपना प्रथम उपन्यास तीस वर्ष की आयु में लिखा था। थियोडोर डेसर ने उन्तीस वर्ष की अवस्था में, गाल्सवर्दी ने तीस वर्ष की आयु में, वेल्स ने उन्तीस वर्ष, सिंक्लेयर लीविस ने भी प्रायः इसी आयु में उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। इससे लेखक की आयु का अन्दाज़ मिलता है। परन्तु वर्षों की गिनती उतनी आवश्यक नहीं है जितनी की लेखक के उत्साह, योग्यता, प्रतिभा और मौलिकता की। आर० एच० मोटरम कहते हैं, कि हमारी धारणा है कि उपन्यास-रचना में प्रधान वस्तु केवल लेखक का परिश्रम है—कितना उसने अपने विषय के लिए परिश्रम किया है। बात सच है, यदि लेखक

अपनी रचना में सफल होना चाहता है तो उसे उसको स्वाभाविक रूप से धारा प्रवाह लिखना चाहिए। यदि उसकी विचारधारा की गति में शिथिलता रही, तो वह पाठकों पर प्रगट हुए बिना नहीं रह सकती। कथा-वस्तु को घसीट कर उपन्यास समाप्त करने से 'सफलता' कोसों दूर भागती है।'

आर्कीबाल्ड मार्शल का कहना है कि हमारी राय में यदि लेखक को उपन्यास लिखते समय स्वतः अपनी रचना से आनन्द न प्राप्त हुआ तो वह रचना अच्छी न होगी। जिस उपन्यास को लिखते समय लेखक स्वयं तन्मय न हुआ, उसे पाठक तन्मय होकर पढ़ेंगे, इसमें सन्देह है। लेखक को कभी इसकी आशा न रखनी चाहिए कि जिस उपन्यास को वह मन लगाकर न लिख सका उसे उसके पाठक मन लगाकर पढ़ेंगे। इस कथन से यह सत्य प्रगट होता है कि उपन्यासकार में बड़ी सहन-शीलता, दत्त-चित्तता होनी चाहिए। जो छोटी-छोटी कहानियाँ, छोटे गीत लिख सकता है वह एकाएक सफल उपन्यासकार हो जायगा—यह विचारणीय विषय है। कारण यह है कि उपन्यास-रचना में लेखक को इतना अधिक सोचना पड़ता है—और इतने विस्तार में सोचना पड़ता है कि साधारण क्षण भर सोचनेवाला 'प्रत्युत्पन्नमति' उतना मानसिक परिश्रम बर्दाश्त नहीं कर सकता। अतः जिसमें बहुत देर तक किसी बात की तह तक सोचने की क्षमता न

हो, समस्त जीवन की व्याख्या अपनी कल्पना द्वारा न कर सके, उसे उपन्यास ऐसे कठिन कार्य में हाथ न लगाना चाहिए।

आर्नल्ड बेनेट कहते हैं, "The strain of keeping a long book at the proper emotional strain through page after page and chapter after chapter is simply apalling and as the end approaches it becomes almost intolerable." अतः जिन लेखकों में बहुत समय तक, सूक्ष्मरूप से सोचने और निरन्तर 'एकरस' होकर काम करने की आदत, क्षमता, न हो, उन्हें उपन्यास लिखने का साहस करने के पूर्व इसका अभ्यास करना चाहिए जिसमें वे लेखक हो सकें।

नये लेखक के सामने प्रारम्भिक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि उन्हें बहुत गद्य लिखना पड़ता है। उपन्यास में गद्य का प्रयोग प्रायः होता ही है। अतः जो लेखक अच्छी शैली में नहीं लिख सकते, जिनके पास शब्दों की कमी है, जिन्हें विचारों को प्रकट करने के अनेक प्रकार के तरीक़े नहीं मालूम हैं—उनके लिखे उपन्यास बड़े ही उखड़े-पुखड़े होते हैं। पाठकों का, उसे पढ़ते समय मन नहीं लगता; वे घबरा कर उसे अलग रख देते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि उपन्यासकार लिखना नहीं जानता, यदि वह रोचक भाषा और शैली में अपने विचार प्रगट नहीं करना जानता, तो उसका उपन्यास,

फिर केवल घटनाओं, संयोग और वियोग की अनुभूतियों के भरोसे नहीं खड़ा हो सकता। उपन्यास केवल घटनाओं, और अनुभूतियों की सूची नहीं है; वरन् उसमें ऐसा वर्णन करना होता है, इस प्रकार क्रम देना होता है कि पाठक अपने को भूल कर, उपन्यास के लोक के प्राणी बनकर, पात्रों के साथ उनके सुख-दुख का प्रत्यक्षीकरण कर सके।

अतः यह सोचना भ्रमपूर्ण है कि जब चाहेंगे उपन्यास लिख डालेंगे। उसके लिए निरन्तर अभ्यास, अध्ययन, चिन्तन और लेखन की अपेक्षा करनी होगी। लेखक को प्रथम अपनी भाषा और शैली पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए—उसे यह कला सीखनी चाहिए कि विचारों को थोड़े शब्दों में, मौलिक रूप से, प्रगट कर सके। उसे जानना चाहिए कि परिस्थितियों का उपयोग उत्तम रूप से कैसे हो, उसे मनुष्य के भाव तथा अनुभूतियों का अनुभव करना चाहिए, व्यंग, हास्य का अवसर समझना चाहिए। सारांश यह कि यदि लेखक अपने पाठकों पर अपनी बात प्रगट कर सके, उनमें ईप्सित भाव उत्पन्न कर सके, अपने उपन्यास द्वारा उनके वे ही विचार बना सके जो उसके अपने थे, तो समझिए कि वह उपन्यास लिख सकता है

# ९—रूपक और रेडियो ड्रामा

एक समय था जब रूपक केवल अभिनय के लिए लिखा जाता था। धीरे-धीरे रूपक 'दृश्य' न होकर 'श्रव्य' भी होता जा रहा है। आजकल हिन्दी में जितने नाटक प्रकाशित हो रहे हैं उनमें से कठिनता से पाँच प्रतिशत अभिनय के काम में आते होंगे। परन्तु नाटक वा रूपक का मुख्य स्थान रंग-मंच ही है। लेखक अपने विचारों को जब 'रूपक' के माध्यम द्वारा प्रकट करने की इच्छा करता है तब उसकी रचना स्वतः सर्वाङ्ग-पूर्ण न होकर अनेक अन्य उपकरणों की अपेक्षा करती है।

यदि आपने कभी नाटक देखा होगा तो आपको ज्ञात होगा कि लेखक की रचना, जिसमें कथोपकथन, वा कुछ रंगमंच के परिवर्तन वा पात्रों के वेश सम्बन्धी आदि सूचनाएँ होंगी, स्वतः सारा कार्य्य नहीं सम्पन्न कर लेती। नाटक की सफलता के हेतु अनेक उपादान आवश्यक होते हैं। पहला तो रंगमंच है जिसमें नाटक के अनुरूप वातावरण बनाया जा सके। फिर अभिनेतागण हैं। यदि अच्छा रंगमंच न मिला, उसमें आवश्यक परदे, रोशनी, सजावट के सामान आदि न मिले तो नाटक बहुत फीका पड़ जाता है। इस पर भी यदि नाटक के पात्रों के लिए अच्छे अभिनेता न मिले तो फिर नाटक कभी सफल हो ही नहीं सकता।

नाटक का लेखक जब नाटक की रचना करता है तो वह अपने मस्तिष्क में एक ऐसे जगत् की सृष्टि करता है जिसका केवल एक ही अंश वह लिपिबद्ध करता है। वह है, उसके काल्पनिक-जगत् के पात्रों की 'बात-चीत' तथा 'व्यापार'। परन्तु जितना वह लिखता है उससे कहीं अधिक वह लिख नहीं पाता। उसकी पूर्ति उसकी रचना (नाटक) के अभिनय करनेवाले करते हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि नाटककार अपनी कला की सफलता के हेतु पराधीन है। इसीलिए मिस्टर गार्डन ली (Garden Lea) कहते हैं, 'So is a dramatist confined—he can soar only as far as the chains of theatric conventions permit'—अर्थात् नाटक के लेखक की गति अविरुद्ध है; वह उतना ही जा सकता है जितना रंगमंच उसे अवसर दे। अतः नाटक का लेखक अपनी कला का एक मात्र संचालक नहीं है और नाटक सर्वाङ्गपूर्ण, स्वाधीन रचना नहीं कही जा सकती। अब यदि लेखन-कला की दृष्टि से हमें 'स्वाधीन' और 'सर्वाङ्गपूर्ण' रचना की खोज हो तो हम या तो उपन्यास लिखें या चुप मार जायँ ? परन्तु यदि नाटककार उपन्यासकार न बनकर नाटककार ही रहना चाहे और रंगमंच के प्रतिबंधों से मुक्त रहकर यदि सफल नाटककार बनना चाहे तो वह क्या करे ? इसका एक मात्र उत्तर है—रेडियो ड्रामा लिखना।

रेडियो क्या है ? यह बहुत पुरानी चीज़ नहीं। अभी

थोड़े ही दिनों से भारत में इसका व्यवहार होने लगा है—प्रचार तो अभी भी उसका बहुत अधिक नहीं हो पाया। परन्तु लेखकों के व्यवसाय की दृष्टि से रेडियो ड्रामा की माँग होने लगी है और रेडियो ब्राडकास्टिङ्ग कम्पनियाँ इस प्रकार की रचनाएँ चाहती हैं।

हमारे बहुत से लेखक कदाचित् रेडियो के विषय में अनभिज्ञ हों। अतः पहले उनके लिए उसका थोड़ा सा परिचय देना उचित होगा। रेडियो द्वारा बिना तार के सम्बन्ध हुए ही समाचार भेजे जा सकते हैं। इसके लिए आप को अपने घर पर एक 'सेट' रखना होगा जिसमें रेडियो 'रिसीवर' होगा और आप अपने घर बैठे दूर के समाचार, गाने आदि सुन सकेंगे। रेडियो द्वारा अब प्रायः सभी शहरों में लोग घर बैठे गाने आदि सुनते हैं।

भारत में सरकार ने देहली, कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानों पर इसका प्रबन्ध कर रखा है कि वहाँ से गाने, समाचार आदि भेजे जायँ और लोग उसे घर बैठे सुनें। इस प्रकार समाचार आदि भेजने को 'ब्राडकास्ट' करना कहते हैं और ऐसे स्थानों को जहाँ से ब्राडकास्टिङ्ग होता है 'ब्राडकास्टिङ्ग स्टेशन' कहते हैं। ब्राडकास्टिङ्ग स्टेशनों पर नियत समय पर लोग गाने बजाने वा व्याख्यान आदि करते हैं और वह सारा का सारा रेडियो द्वारा सब स्थानों पर सुनाई पड़ता है। जिसके पास 'रिसीविंग सेट' है वह घर बैठे उसका आनन्द लेता है। आप कमरे में बैठे-बैठे

देहली वा, कलकत्ता में होते हुए गाने आदि को सुन सकते हैं।

इन ब्राडकास्टिङ्ग स्टेशनों के व्यवस्थापकों को ऐसे नाटकों की आवश्यकता रहती है जिसे वे ब्राडकास्ट कर सकें। उन्हें रेडियो-ड्रामा कहते हैं। उसमें रंगमंच, वेश भूषा, परदे, प्रकाश आदि की आवश्यकता नहीं। यह एक प्रकार का 'श्रव्य रूपक' होता है। आप घर बैठे केवल सुनकर समझ लेते हैं कि अमुक पात्र क्या कर रहा है, क्या कह रहा है। इस प्रकार के रेडियो ड्रामा के लिखने की एक अपनी कला है इसे जान लेने के पूर्व रेडियो ड्रामा लिखने का प्रयत्न न करना चाहिए।

रेडियो ड्रामा की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। रूपक में अभिनेता केवल बात-चीत ही नहीं करते वरन् उनकी भाव-भंगी आदि भी दर्शक देखते हैं। रेडियो ड्रामा में दर्शक तो होते ही नहीं। होते हैं केवल श्रोतागण। वे अपने कमरे में बैठे केवल कानों से सुनते हैं। देखने के लिए वहाँ कुछ रहता भी नहीं। रेडियो ड्रामा में सारी बातें केवल शब्दों द्वारा ही प्रकट करनी होती हैं। रूपक में जो कार्य परदा, भूमिका, सजावट या प्रकाश-व्यवस्था आदि से होता है, वह भी रेडियो ड्रामा में असम्भव हैं। अतः रेडियो ड्रामा लेखक को रूपक के समस्त वाह्य सहायक उपादानों को अपनी रचना-कला द्वारा अपने रेडियो ड्रामा में, शब्दों से प्रकट करना होता है। सारांश यह है

कि रेडियो ड्रामा में नाटक की सारी बातें शब्दों द्वारा ही प्रकट करनी होती है। वहाँ नेत्रों के लिए कुछ नहीं है। जो है वह कानों के लिए और कल्पना के लिए।

कहते हैं कला कल्पना की व्यञ्जना है। कलाकार अपनी कल्पना में उद्भूत अनुभूति वा अनुभव को रचना द्वारा प्रकट करता है। रचना चाहे शब्दों के रूप में हो, चाहे स्वरों के रूप में, चाहे रेखाओं के, चाहे मूर्ति रूप में हो। यही व्यंजना संसार में अनेक ललित कलाओं की उत्पत्ति करती है। हम लेखक हैं हमारी कल्पना साहित्य रूप में प्रकट होती है। इसमें कविता है, उपन्यास है कहानी, नाटक आदि हैं। नाटक में जो कृत्रिमता है वह उपन्यास में नहीं। परन्तु नाटक में जो वास्तविकता है वह उपन्यास में नहीं। उपन्यास में हम कलाकार की कल्पना, का अनुभव अपनी कल्पना द्वारा करते हैं नाटक में हम उसे प्रत्यक्ष रूप में (पात्रों, रंगमंच आदि) देखते हैं। परन्तु नाटक हमें स्थान-स्थान पर कृत्रिमता का अनुभव कराता रहता है। हम यह नहीं भूलते कि यह अभिनय है। यह रंगमंच जैसे संकुचित स्थल पर हो रहा है। रङ्गमंच और नाटक का अविच्छिन्न सम्बन्ध ही रूपक की परिधि को संकुचित बनाता है। अतः जितने विस्तार और स्वाभाविक रूप में कल्पना, उपन्यास वा कहानी आदि में विहार करती है उतना नाटक में असम्भव है; इसी लिए नाटक को कुछ लोग second hand affair कहते हैं।

परन्तु इसी के साथ हम उपन्यास को भी कल्पना ही कह सकते हैं। उसमें 'साक्षात्' की कमी है।

उपरोक्त दोनों कमी रेडियो ड्रामा में नहीं है। मिस्टर गार्डन ली कहते हैं "It is reality itself, not an isoated expression of imagination, but imagination itself". रेडियो में नाटक की कृत्रिमता नहीं, उपन्यास की 'केवल कल्पना' नहीं। उसमें हम कानों से सुनते हैं; कल्पना-द्वारा 'शेष' का अनुभव करके आनन्द लेते हैं। जिस प्रकार हम एक कमरे में बैठे हुए दूसरे कमरे में बैठे दो व्यक्तियों की बातचीत सुनकर, उस कमरे से आनेवाली आवाज़ सुनकर किसी 'तथ्य' पर पहुँचते हैं, उसी तरह हम रेडियो द्वारा ब्राडकास्टिङ्ग स्टेशन पर होने वाले 'अभिनय' को कानों से सुनकर समझते हैं।

रेडियो ड्रामा में वे समस्त बातें सम्भव हैं जो रंगमंच पर 'असम्भव' होती हैं। आप 'कथोपकथन' द्वारा समस्त वस्तुओं का वर्णन करके श्रोता को उसका अनुभव करा सकते हैं। प्राचीन समय में जब 'परदे' नहीं थे तो यह कार्य वर्णन द्वारा संपन्न होता था। हमारे संस्कृत नाटक तथा शेक्सपियर के नाटक इस के प्रमाण हैं। वास्तविकता के लिए आवाज़ द्वारा बहुत सी आवश्यक वस्तुओं की उपस्थिति का अनुभव कराया जा सकता है।

रेडियो ड्रामा और रूपकों में क्या अन्तर है, यह स्पष्ट हो गया होगा। दोनों में महान् अन्तर है, एक 'दृश्य' है,

दूसरा 'श्रव्य'। और दोनों ड्रामा हैं। रेडियो ड्रामा लिखने का प्रयत्न करने के पूर्व रेडियो की आवश्यकताएँ अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। रेडियो ड्रामा के अभिनेता केवल 'मुख' से काम करते हैं। उसके 'दर्शक'—वा श्रोता बहुत संख्या में नहीं रहते। श्रोतागण 'अकेला' होता है और एकांत में 'जनता' की रुचि के अनुसार नहीं, वरन् अपनी रुचि के अनुसार रेडियो ड्रामा का आनन्द लेता है। अगर हम नाटक देखने जाते हैं तो प्रायः हम अभि नेता की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर अपनी व्यक्तिगति रुचि से काम नहीं लेते। जिसने सिनेमा या टॉकी देखा होगा वह यदि क्षण भर सोचे तो उसे स्पष्ट हो जायगा कि पात्र वा पात्री के आचरणों का विशेष ध्यान न कर हम अभि-नेता वा आभनेत्री की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर 'खेल' पसन्द करते हैं। उनकी वेषभूषा, उनके शरीर का गठन, सौंदर्य आदि हम पर अधिक प्रभाव डालते हैं। उस खेल की सफलता 'कला' की परिपक्वता के कारण नहीं, वरन् अन्य उपकरणों पर अधिक आश्रित रहती है। वहाँ भरे हुए 'हॉल' में आप अपनी व्यक्तिगत रुचि का गला घोंटकर जनता की हाँ में हाँ मिलाने लगते हैं। रेडियो ड्रामा में यह बात नहीं है। आप 'हॉल' वाली मनोवृत्ति से मुक्त हैं। आप अपने घर पर अकेले शान्तिपूर्वक आराम से बैठे हैं; केवल कानों से सुनते हैं, आँखें मूँदे कल्पना द्वारा समझते हैं। ऐसी अवस्था में आप 'स्वतन्त्र आलोचक' रहते हैं।

इसलिए रेडियो ड्रामा के लेखक का कार्य रूपक-रचयिता से कठिन है। रूपक-रचयिता दर्शक समूह को प्रसन्न करता है; रेडियो ड्रामा-लेखक, एक व्यक्ति को। और यह आवश्यक नहीं कि जो एक को पसन्द आवे वह जन-समूह को भी पसन्द आवे। रेडियो ड्रामा-लेखक का कार्य कठिन है। उसकी सफलता की परख सच्ची होती है। उसकी सफलता तभी होती है। जब वह 'सत्य' के अधिक निकट हो। यदि वह श्रोता को रस का अनुभव करा सकता है तो वह सफल ड्रामा लेखक है।

रेडियो ड्रामा दो प्रकार से लिखे जाते हैं। एक है परिचयात्मक विधि (Narrator Methoc) दूसरा है सर्वाङ्ग-पूर्ण विधि (Self-contained Methoc)। रेडियो ड्रामा और साधारण नाटक में यह प्रधान अन्तर होता है कि उसमें समस्त बातें ऐसी होनी चाहिए जो शब्दों द्वारा प्रकट की जायँ, जिसमें 'श्रोता' सुन सके। साधारण नाटक में आप लिखते हैं—

स्थान—पाटलिपुत्र में अशोकाराम विहार।

समय—सायंकाल के पूर्व।

[ कुछ भिक्षुओं का आना ]

ये बातें रंगमंच के व्यवस्थापकों के लिए लिखी गई हैं। परन्तु रेडियो ड्रामा में लेखक को ऐसी बातें इस प्रकार व्यक्त करनी होंगी जिसमें श्रोता सुनकर समझ लें कि अमुक स्थान है, अमुक समय है और अमुक लोग आ रहे

हैं। इस प्रकार पात्रों का पहनावा, कमरे की सजावट आदि सभी बातें बातचीत द्वारा ही प्रकट करनी होंगी।

उपरोक्त दृष्टि से जब साधारण रूपक को रेडियो के योग्य बनाना होता है तो परिचयात्मक विधि से ऐसा किया जाता है; जैसे उपरोक्त उदाहरण में सारी बातें एक 'परिचायक' द्वारा कहलायी जायँगी और वह ड्रामा के आरभ में कहेगा कि अमुक स्थान में अमुक समय है और अमुक पुरुष ऐसा-ऐसा परिधान पहने आ रहा है। यही परिचय देने वाला प्रत्येक दृश्य का परिचय देगा और पात्रों की बातचीत के पूर्व और बीच-बीच में कथानक की शृङ्खला जोड़ता जायगा। इस प्रकार 'परिचायक' और ड्रामा के पात्र दोनों मिलकर ड्रामा समाप्त करते हैं। श्रोता, परिचायक से घटनाओं के क्रम का परिचय पाता है, पात्रों की बातचीत को सुनकर उसे समझता है।

दूसरे प्रकार का रेडियो ड्रामा लिखने की विधि है—सर्वांग-पूर्ण विधि। इसमें कहीं किसी की सहायता की ज़रूरत नहीं। श्रोता स्वय सुनकर ही देश, काल, पात्र आदि सभी का परिचय पाजाता है। इसमें लेखक सारा परिचय पात्रों के कथोपकथन द्वारा देता है। जैसे,

"गुडमॉर्निंग प्रोफ़ेसर साहब, क्या मैं आसकता हूँ? आप किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त तो नहीं हैं? क्या लेक्चर तैयार कर रहे हैं? आपने स्टडी तो खूब सजा रक्खी है। ये पुस्तकें जान पड़ती हैं अभी आयी हैं। शेक्सपियर

के नाटक हैं न। अच्छा यह टेबुल तो बड़ा ही सुन्दर आप ने मँगाया। आपको भी बड़ा शौक़ है कमरा सजाने का। मैंने आप जैसा सुरुचिपूर्ण आदमी कम देखा। आपका अध्ययनकक्ष जैसा शायद ही किसी के पढ़ने का कमरा हो। अरे दस बज रहे हैं। आपकी घड़ी ठीक है न?"

इस प्रकार बातचीत में स्थान और समय का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के रेडियो ड्रामा में क्रमिक विकास होता है। लेखक को सारी बातें बातचीय से व्यक्त करनी होती हैं।

इस तरह के रेडियो ड्रामा की रचना करते समय लेखक को कुछ बातों पर ध्यान रखना चाहिये। संक्षेप में वे नीचे दी जाती हैं।

पहली बात—जहाँ स्थान का वर्णन करना हो अथवा प्रकृति का वर्णन आवश्यक हो वहाँ लेखक को संक्षेप में ही कहना चाहिए। उपन्यास की तरह अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। बातचीत में एक व्यक्ति कभी विस्तार-पूर्वक उतना लम्बा वर्णन नहीं करता। नवीन युग में संक्षेप वर्णन करना स्वाभाविक समझा जाता है। दूसरी बात यह कि रेडियो ड्रामा को सुनने वाले अनेक स्थिति के लोग होते हैं; उन्हें स्वयं अपनी कल्पना से 'साक्षात्' करने के आनन्द से वंचित करना ठीक नहीं। मान लें यदि लेखक लिखता है।

"मिस्टर मदन आप वहाँ हैं?"

"मैं यहाँ हूँ—अपने सोने के कमरे में। मेरी तबीयत कुछ ख़राब है।"

यहाँ सोने के कमरे का वर्णन ज़रूरी नहीं। प्रत्येक श्रोता अपनी कल्पना से सोने के कमरे की कल्पना कर लेगा। यदि लेखक उसका विषद् वर्णन करता है तो वह सुननेवालों के लिए दुरूह हो जाता है। नहीं तो 'सोने के कमरे' से प्रत्येक सुननेवाला अपनी आँखों देखा सोने का कमरा समझ लेगा और उसका अनुभव उसके लिए इतना 'आत्मीय' होगा कि वह 'ड्रामा' में विशेष आनन्द लेने लगेगा।

इसी तरह पात्रों की वेशभूषा के विषय में भी अधिक विस्तार में न जाना चाहिए। सुननेवाला अपनी कल्पना से अपनी स्थिति के अनुसार अपने पात्र को 'पहना' लेगा; और उसका पात्र उसके जीवन से दूर न होगा। 'आज तुम बड़े ठाट से कहाँ जा रहे हो मदन !'—इतना सुनते ही 'श्रोता' मदन नामक किसी पात्र को अपनी कल्पना से अच्छे कपड़े पहना लेगा और उसका पात्र उसका परिचित सा लगने लगेगा। रेडियो ड्रामा के लेखक के लिए अपने 'श्रोता' की कल्पना को जगाना परम आवश्यक है।

बातचीत में लेखक को चाहिए कि एक पात्र से दूसरे पात्र का नाम इस प्रकार कहलाता जाय कि सुनने वाले को उन्हें पहचानने में कठिनाई न हो और वह दोनों पात्रों

की बातचीत सुनकर उनके 'लहजे' से उन्हें पहचान सके — अन्यथा वह उनकी बातचीत न समझ पायेगा।

रेडियो ड्रामा में जहाँ प्रयत्न ( action ) हो, उसे इस प्रकार व्यक्त करना होगा कि सुननेवाले सुन सकें। प्राचीन प्रणाली के नाटकों में 'स्वगत'—वा 'आकाश-भाषित' की प्रणाली थी। इस विधि से गुप्त भाव प्रकट कराये जाते थे। इनका प्रयोग रेडियो ड्रामा में सफलता-पूर्वक होगा।

रेडियो ड्रामा के आरम्भ में पात्रों का परिचय देना व्यर्थ है। इससे उसका आनन्द जाता रहता है। कला की दृष्टि से यदि धीरे-धीरे सारी बातें 'श्रोता' को प्रकट हों तो सबसे अच्छी बात है। मिस्टर ली कहते हैं—"The practice of giving a mind picture to the listener, before the play is actually performed is a weakness."

रेडियो ड्रामा का विस्तार अधिक न होना चाहिए। छोटे-छोटे नाटक, वा एक अंक के नाटक रेडियो के विशेष काम के होते हैं। भारत में अभी लेखकों का ध्यान इधर नहीं गया है। परन्तु जो रेडियो ड्रामा लिख सकें उन्हें अपनी रचना देहली वा कलकत्ता के डाइरेक्टर आफ प्रोग्राम, इण्डियन स्टेटस ब्राडकास्टिंग सर्विस के पास भेजनी चाहिए। स्वीकृत होने पर लेखक को प्रत्येक 'अभिनय' के लिए कुछ रायल्टी मिलती है। लेखक उसे पुस्तकाकार छपा सकता

है; इसका हक वे लोग नहीं लेते। भारत में रेडियो ड्रामा का प्रचार बढ़ेगा। ब्राडकास्ट करने के लिए लिखते समय इसपर ध्यान रखना चाहिए कि उसकी भाषा सरल हो अन्यथा वह पसन्द न होगी। 'विषय' चुनते समय अपने यहाँ के सर्वसाधारण की रुचि का ध्यान रखना चाहिए और यह भी स्मरण रहना चाहिए कि कथानक वा प्लाट रोचक हो और उसका परिणाम शिक्षाप्रद भी हो।

## १०—हास्य और उसकी सृष्टि

हास्य क्या है, क्या कभी आपने इस पर विचार किया है? मनुष्य के समस्त भावों में हास्य ही बड़ा अव्यक्त और परिभाषा की परिधि में न आनेवाला है। हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने इसे स्थायी भावों में से एक माना है। परन्तु हास्य की परिभाषा उन लोगों ने भी नहीं दी है। लक्षण दिये हैं, आलंबन और उद्दीपन गिनाए हैं।

लेखन कला की दृष्टि से हास्य क्या है? इसकी सृष्टि कैसे होगी? किस अनुभूति को सन्तुष्ट करने से रचना में हास्य का पुट आवेगा आदि बातें ही लेखक के विशेष काम की हैं। हमें इसका ज्ञान रखना आवश्यक है कि हास्य का उद्रेक कैसे हो—उसकी सृष्टि करने में हम किन-किन उपकरणों की सहायता लें।

लेखन-कला की दृष्टि से हास्य पर विचार प्रगट करते हुए मिस्टर डी० नेविल हॉबर्ट लिखते हैं—

For the purpose of the free-lance writer, humour may be roughly described as the apt conjuction of contrasting ideas. Examine any humorous composition, which has caught your fancy, and you will find that your laughter was provoked mainly by contrast—स्पष्ट है कि विरोधी विचार हास्यरस का उद्रेक करते हैं।

हमें हँसी कब और क्यों आती है ? साधारण जीवन में हम जिन वस्तुओं और विचारों को जैसा पाते हैं वे हमारे लिए हँसने की वस्तु नहीं। हम उनमें कोई 'असाधारणता' वा अलौकिकता नहीं पाते। परन्तु यदि उनमें कोई अस्वाभाविकता वा आकस्मिक परिवर्तन आ जाय तो हमें हँसी आने लगती है। जिसकी हम आशा नहीं करते, कल्पना नहीं कर पाते—उसी बात से हमें हँसी आती है। हँसी के दो कारण होते हैं—'विरोधी विचार' और 'आकस्मिकता' उदाहरणार्थ:—

( १ ) बहरे आदमी ने अपने बीमार पड़ोस के पुत्र से पूछा,—"कहो जी तुम्हारे पिता कैसे हैं ?" पुत्र ने उत्तर दिया, "कैसे क्या, घड़ियाँ गिन रहे हैं।" बहरे ने जाने क्या समझा। उसने उत्तर दिया "ईश्वर को धन्यवाद दो; आदमी के जितने दिन अच्छी तरह बीत जायँ उतना शुक्र है।"

(२) घर के लोग एकाएक घबरा उठे। कमरे के एक कोने एक बड़ा साँप गुडरी लगाकर बैठा था। महल्ले-वाले सुनकर दौड़े आये। साँप को मारने की तैयारी होने लगी। किसी की हिम्मत कमरे में घुसने की नहीं होती थी। आखिर एक हिम्मती आदमी ने लाठी लेकर कमरे में प्रवेश किया। उसने साँप को मारने के लिए बड़ी सावधानी से काम लिया। दीवार से एक सीढ़ी लगाकर, उस पर चढ़कर बड़ी सतर्कता से उसने साँप पर 'लाठी-चार्ज' आरम्भ किया। एक, दो, तीन, चार—वह दनादन लाठी चलाये चला जा रहा था। "बस मार लिया! की अब मार लिया!" पुकार मच गई। साँप अपनी जगह पर बिना हिले डोले पड़ा रहा। लोग दूर से लालटेन दिखाते हैं। कोई समीप नहीं जाता। अन्त में बहुत डरते-डरते लोग पास जाते हैं। साँप का कहीं पता नहीं। कुएँ की रस्सी, कुण्डलाकार लाठी की चोट से कुचली हुई वहाँ पड़ी है! भय से त्रस्त लोग हँसते-हँसते लोट पड़ते हैं।

ऊपर के उदाहरणों से पता चलता है कि एक में विरोधी विचार काम कर रहे हैं, दूसरे में आकस्मिक निराशा होती है। मनुष्य के आचरणों में जहाँ कहीं 'ऊटपटाँगपन' आया हमें हँसी आती है; जहाँ कहीं हम 'साधारण' को 'असाधारण' वा 'असाधारण' को 'साधा-रण' महत्व देते हैं हमें हँसी आती है। बहुत साधारण श्रेणी के लेखक मार-पीट, गिरना पड़ना, गाली-गलौज

आदि की सहायता से हास्यरस का उद्रेक करते हैं, पर ये साधन वा हथकण्डे बड़े ही 'अ-साहित्यिक' हैं। सभ्य और शिक्षित पाठक के लिए ऐसे हास्य की आवश्यकता है जिसे पढ़ने और समझने पर हँसी आये। शिष्ट हास्य वा Intellectual Humour उसके लिये है जो तर्क शक्ति से अच्छी तरह काम ले सकता है और जो तक शैली की खराबियों को बहुत जल्दी भाँप लेता है। Fallacy वा 'भ्रम' के आधार पर शिष्ट हास्य की सृष्टि होनी चाहिए।

हिन्दी में हास्य रस की रचनाओं की बड़ी कमी है और विशेष कर शिष्ट हास्य विषयक। इस ओर लेखकों को ध्यान देना चाहिए। हास्य रस पर लिखने के पूर्व लेखक को अपने दृष्टिकोण को निश्चित करना पड़ेगा। यदि वह अपने मस्तिष्क को वैसा बना लेगा तो संसार की सारी बातों में उसे हास्य की सामग्री मिलेगी। परन्तु हास्य का अर्थ केवल हँसना ही नहीं है। यदि आप समस्त वस्तुओं पर हँसते रहेंगे तो लोग आपको मूर्ख समझेंगे। मूर्खता हास्य का पर्याय नहीं—वरन् विरोधी है। जो लेखक 'मूर्खता' का आश्रय लेकर हास्य की सृष्टि करते हैं वे बहुत ही निम्न श्रेणी का हास्य उत्पन्न करना चाहते हैं।

हास्य के दो अंग हैं—व्यंग्य और विनोद। व्यंग्य में लेखक हास्य द्वारा कुछ सुझाना व समझाना चाहता है। विनोद उद्देश्य-हीन शुद्ध हास्य है। उसका उद्देश्य केवल हँसाना है। व्यंग्य सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का

बहुत ही सुन्दर साधन है; विनोद समय बिताने का मनोरंजक उपादान भी है। हिन्दी साहित्य में दोनों की कमी है और दोनों ही की आवश्यकता है।

समाज में इतने प्रकार की बेढङ्गी बातें हैं और होती रहती हैं कि उन पर अच्छा व्यंग्य लिखा जा सकता है। नित्यप्रति जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ होती रहती हैं जिन पर अच्छे 'विनोद' की सृष्टि हो सकती है। लेखकों को इसकी शिकायत रहती है कि उन्हें 'विषय' नहीं मिलते। वास्तव में वस्तु की उतनी कमी नहीं जितनी ढूँढ़ने वालों की। "गुण ना हिरानो गुणगाहक हिरानो है"—वाली कहावत इस पर ठीक चरितार्थ होती है।

शेक्सपियर ने एक स्थान पर लिखा है—"A good wit will mak use of anything." यदि आपमें हास्य की परख है, यदि आप में इस रस की अनुभूति है तो आपको 'वस्तु' वा 'विषय' की कमी न रहेगी। फिर भी लेखक को कुछ ऐसे उपाय बतलाने पड़ेंगे जिसकी सहायता से वह हास्य रस का अनुभव कर सके, और अपनी रचनाओं के निमित्त सामग्री एकत्र कर सके। लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका मस्तिष्क 'हास्य' के उपयुक्त बने और उसमें हास्य को ढूँढ़ निकालने की शक्ति आवे।

इस हेतु उसे कुछ अभ्यास करना चाहिए। जहाँ कहीं लेखक रहेगा, उसे कुछ न कुछ दिखाई ही देगा, कोई-न-

कोई बात होती ही रहेगी। ऐसे स्थल पर उसे उनके विषय में सोचते रहना चाहिये। उदाहरण के लिए—मान लें, आप रेल यात्रा कर रहे है। आपके सामने बेंच पर एक वृद्ध और एक स्त्री बैठी है। मान लें, आप देख रहे हैं कि स्त्री वृद्ध को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है, उसकी हाँ में हाँ मिलाती है। मान लें, वह स्त्री उसकी लड़की है। मान लें, संसार में इस तरह की बहुत सी लड़कियाँ हैं जो अपने बूढ़े पिता को प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हैं। मान लें, पिता अमीर है। मान लें, उसकी पांच छः पुत्रियाँ हैं। मान लें, उसके एक पुत्र है, मान लें, वह बहुत निकम्मा है। मान लें, सभी लड़कियाँ अपने पिता को इस हेतु प्रसन्न रखती हैं कि वह मरते समय उन्हें अपना धन दे जायगा। मान लें, बूढ़ा मर जाता है। उसकी सभी लड़कियाँ अपने अपने घर से दौड़ी आती हैं। सभी दिखाने के लिए उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए खूब धन खर्च करती हैं। एक दूसरे से इसमें बाजी मार ले जाने की कोशिश करती हैं। अन्त में बूढ़े का वसीयतनामा ढूँढ़ा जाता है। उसका लड़का इस ओर उदासीन है। लड़कियाँ उसे बनाती हैं, उसे निकम्मा कहती हैं। अंत में बूढ़े का वसीयतनामा ढूँढ़ा जाता है। वह मिलता है, पर उसमें उसके हस्ताक्षर नहीं रहते। लड़का सारे धन का अधिकारी हो जाता है!

इस प्रकार 'मान लें' वाले तरीके से बहुत सी बातें

सोची जा सकती हैं। मान लें, एक आदमी को दुम निकल आई है। वह अमीर का पुत्र है। पढ़ने जाता है। इस प्रकार जीवन के सारे व्यापार में उसके साथ 'मान लो' वाली 'दुम' क्या-क्या मजा दिखायेगी, इसे सोचकर आप अच्छे हास्यरस की रचना कर सकते हैं। हास्यरस का लेखक जहां जायगा वहां उसे कोई-न-कोई बात अपने काम की अवश्य मिल जायगी। सब बातों पर 'हास्य' नहीं लिखा जायगा, पर लेखक को ऐसी सारी बातें अपनी नोट-बुक में नोट कर लेनी चाहिए। समय पर वे काम देती हैं। एक विचार से अनेक विचार उठते हैं --उसे भी नोट करना उचित है।

हास्य रस की रचनाओं के पारायण से भी विचार मिलते हैं और अच्छे लेखकों की मजी हुई शैली का अभ्यास होता है। हास्य की सफलता केवल 'कथानक' वा 'वस्तु' पर नहीं रहती। बहुत कुछ तो लेखन-शैली और शब्दावली तथा वाक्य-विन्यास पर निभर रहती है। पढ़ते समय इस विषय का आनन्द न उठाकर लेखक की लेखन-शैली पर अधिक ध्यान रखना चाहिए।

हास्य का उद्रेक तभी होता है जब ठीक-ठीक शब्दों द्वारा भाव प्रगट होते हैं। यदि आप का भाषा पर अधिकार न हुआ तो आपके विचार आप ही तक रह जायँगे। हास्य लिखते समय 'शब्द-शक्ति' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। एक शब्द सारे हास्य को नष्ट कर सकता है।

हास्य के लिए एक विशेष-परिस्थिति तथा वातावरण की आवश्यकता होती है। यदि आप अपने शब्दों द्वारा उसकी सृष्टि नहीं कर सके तो हास्य का परिपाक न होगा। स्पष्टता और चुस्ती हास्य के आधार हैं। अधिक विस्तार या भाषा की दुरूहता हास्य का प्रभाव नष्ट कर देती है।

हास्यरस की रचनाओं की सृष्टि करने की इच्छा करने के पूर्व उसके लिए यथेष्ट तैयारी करनी चाहिये। पहले तो अपना 'स्वभाव' ऐसा बनाना चाहिए कि उसकी बातचीत लोगों को हँसा दे। उसे गंभीर होना चाहिए पर उसके मस्तिष्क में हास्य की दुनिया होनी चाहिए। फिर उसे जीवन का अनुभव भी होना चाहिए। केवल पुस्तकों के आधार पर अच्छे हास्य की सृष्टि नहीं की जा सकती। निजी अनुभव हास्यरस के लेखक में मौलिकता लाता है। उसके पश्चात् उसे भाषा पर अधिकार करना चाहिए। अपनी निजी शैली में रचनाएँ कर सकने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए। हास्यरस की रचनाओं के लिए लेखक को कुछ अच्छे-अच्छे शब्द, शब्द-समूह, वाक्य और उक्तियाँ स्मरण रखनी चाहिए। उसे गंभीर शब्दों के हँसानेवाले पर्याय अपने पास लिख रखना चाहिए। वे समय पर काम आते हैं। समाज में नित्यप्रति व्यवहार होनेवाली भाषा में बराबर ऐसे शब्द बनते रहते हैं जिसे हास्यरस का लेखक अपनी रचना में यदि प्रयोग करे तो उसमें चमत्कार आ सकता है। उदाहरण के लिए मोटर साइकिल के लिए फट-

फटिया, खड़खड़िया। इसलिए हास्यरस के लेखक को नये-नये शब्दों और वाक्यों का संग्रह करते रहना चाहिए। समाज में अमीर-गरीब, बच्चे-बूढ़े सभी में हास्यरस की अनुभूति शक्ति है। यदि हम हँसें नहीं तो हमारा जीवन मृत्यु तुल्य हो जाय। किसी ने लिखा है—स्वास्थ्य के लिए हँसना बहुत आवश्यक है।

"One of the best ways to retain the charms of youth is to indulge in laughter as frequently as possible. Laugh and keep young."

हास्यरस की रचना करते समय स्मरण रखना चाहिए कि 'लेखन-शैली' उसमें प्रधान 'तत्व' है। यदि आप लेख लिखना चाहते हैं। इस हेतु विषय दो प्रकार से काम में आते हैं। साधारण और गंभीर। यदि हम गंभीर विषय का महत्व मिटा कर लिखें; साधारण को ज़रूरत से ज्यादा महत्व प्रदान करें—हास्य पूरा उतरेगा। पर इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि आप जिस गति से आरंभ करें वही गति अंत तक रहे। यदि महत्वपूर्ण विषय को साधारण समझ कर चले हैं तो समस्त रचना में उसे साधारण ही रखें। यदि साधारण को 'महत्वपूर्ण' बना रहे हैं तो अंत तक वही बातें रहें। कहीं आपकी तन्मयता टूटे नहीं, कहीं आप का भेद खुले नहीं। यही सफलता की कुंजी है।

प्रत्येक प्रकार के विषय और उनके प्रतिपादन शैली के अनुरूप रचना की शैली होगी। लेखक समस्त रचनाओं

में एक ही शैली का प्रयोग नहीं कर सकता। जैसा विषय हो, जिस दृष्टि से उस पर प्रकाश डालना हो, उसी के अनुरूप शैली रखनी चाहिए। यदि लेखक के 'हथकण्डे' पाठक पहले ही से भांप लेते हैं तो उसकी रचना फिर वे न पढ़ेंगे। और लेखक तो लिखता है पाठकों के लिए ही।

'विषय' के लिए हास्य-लेखक को स्मरण रखना चाहिए कि पाठक बासी और बहुत साधारण 'विषय' पर हँसना नहीं चाहते। हास्यरस की रचनाओं में 'नवीनता' और 'सामयिकता' होनी चाहिए। परन्तु यदि आप सिद्धहस्त लेखक हैं और आपकी प्रवृत्ति कलात्मक है तो आप साधारण से साधारण विषय पर लोगों को हँसा सकते हैं। यहाँ 'विषय' तो केवल नाममात्र का रहता है वास्तव में रहते हैं आपके निजी विचार। इस प्रकार की रचनाओं का सुन्दर रूप हमें Sketch या शब्द-चित्र में मिलता है। हिन्दी में यह एकदम नयी वस्तु है और इसकी बहुत ही कमी है।

शब्द-चित्र की विशेषता यही है कि उसमें 'वस्तु' नाम-मात्र की होती है और लेखक को काफ़ी आज़ादी रहती है। शब्द-चित्र, केवल हँसी दिलानेवाले वाक्यों का समूह नहीं है। उसमें कुछ चमत्कार भी होना चाहिए, कोई ऐसी बात होनी चाहिए जिसकी साधारण रूप से पाठक को आशा न हो। नवसिखुए लेखकों को शब्द-चित्र लिखते समय पहले

'मैं' वाली पद्धति अंगीकार करनी चाहिए। जब लेखक 'स्वयं' लिखता है तो उसे अपनी रचना में अधिक सुगमता होती है। लेखक ऐसा लिखता है मानों उसके शब्द-चित्र का पात्र, स्वयं अपना अनुभव लिख रहा हो। उसे काफी स्वतन्त्रता रहती है। अपने ऊपर घटाकर वह जो चाहे कह डाले। ऐसी दशा में प्रायः लेखक 'मूर्ख' वा 'मूढ़' का अभिनय करता है। इस प्रकार वह परोक्ष रूप में हास्य का उद्रेक करता है, परन्तु ऐसी दशा में भी लेखक को इसके प्रति सावधान रहना उचित है कि वह कहीं 'अति' न कर बैठे। अधिक ऊट-पटांग बातें बकने या करने से पाठक के लिए 'हास्य' निम्न श्रेणी की 'भड़ैती' बन जाता है।

'अन्य पुरुष' वा 'मैं' रूप में जो शब्द-चित्र लिखा जाता है वह प्रायः कहानी का रूप धारण करता है। हास्यरस प्रधान कहानी यदि बहुत लम्बी न हो तो अच्छी होती है। पर शब्द-चित्र में कहानी की घटनाएँ ऐसी होनी चाहिए जिसमें एक पात्र का चरित्र सामने आ जाय और वह पात्र ऐसा हो जिसके आचरण से हमारा मनोरंजन होता हो। ऐसे शब्द-चित्र भी लिखे जा सकते हैं जिसमें 'पशु' भी आते हों। हास्य के लिए 'पशु' की उपस्थिति अच्छी होती है। हिन्दी में हमारे देखने में ऐसी एक ही रचना आई थी। वह है 'लम्बकर्ण'। यह परशुराम जी की लिखी रचना कभी 'विशाल भारत' में छपी थी। शब्द-

चित्र बहुत लम्बे अच्छे नहीं होते । छोटे और अच्छे लिखे शब्द-चित्र पाठकों का अधिक मनोरंजन करते हैं ।

नये लेखकों को पहले हास्यरस के शब्दचित्र और कहानियों पर हाथ बैठाना चाहिए, फिर हास्यरस के लेख लिखने का प्रयास करना चाहिए । हास्य-प्रधान कहानियों में उन समस्त गुणों की अपेक्षा है जो कि एक अच्छी कहानी में होने चाहिए और उसमें 'सम्भव' की मात्रा भी यथेष्ट होनी चाहिए । यदि कहानी 'असम्भव और 'अस्वाभाविक' प्रतीत हुई तो वह असफल समझी जायगी । वह समय गया जब ऊटपटाँग कथानकवाली कहानी हमें हँसाती थी । मिस्टर होवर्ड (Howard) कहते हैं—

"The days when distortion was considered funny are over. Modern humour is a product vastly superior to that of a century ago in that it is founded upon reality."

हास्यरस की कहानी में बहुत सी असम्भव बातें होती हैं पर लेखक अपने पात्रों को ऐसा सजीव बनाता है कि वे अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होतीं । पात्रों के चरित्र के अनुसार ही उनका आचरण होता है । लिखते समय इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसे पढ़कर पाठक हँसेंगे या नहीं । पुराने, प्रचलित चुटकलों और विनोद-व्यञ्जक वाक्यों से यदि आप अपनी कहानी भर देंगे तो पाठक

उससे ऊब उठेंगे। उसमें कोई नवीनता उन्हें न मिलेगी। हास्यरस की कहानी में ऐसा वातावरण उत्पन्न करना होगा कि पाठक उसे पढ़कर हँसे। वह वातावरण स्वाभाविक और सच्चा हो। यदि पाठक उसे झूठ समझेगा—उसे कभी हँसी न आयेगी। कहानी लिखने के पूर्व उसे अपनी कल्पना से उसे प्रत्यक्षीकरण कर लेना चाहिए। उसके पात्र यदि उसकी कल्पना में जीते-जागते आचरण नहीं करने लगते तो पाठक तो उन्हें पहचान भी न पावेगा।

हास्यरस की कहानी के तीन प्रधान रहस्य हैं। हास्य केवल बातचीत या मनोरंजक उक्तियों में नहीं रहता। समस्त वातावरण, घटनाओं का क्रम भी हास्य उत्पन्न करता है। कहानी का मज़ा कभी-कभी उसके अन्त में आता है। कभी कभी परिस्थिति ऐसी 'हास्योत्पादक' होती है कि कथा क्रमिक विकास के साथ बराबर बढ़ती ही जाती है। कभी कभी वर्णनशैली और लेखक की भाषा हास्य का उद्रेक करती है। इसलिए इन समस्त बातों पर ध्यान रखकर हास्यरस की कहानी लिखनी चाहिए।

पाश्चात्य देशों में हास्यरस के लघु उपन्यास भी लिखे जाने लगे हैं। इन्हें 'उपन्यासिका' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। नये लेखक प्रायः आरम्भ में यही लिखते हैं। यह एक प्रकार से बड़े नाविल का खाका होता है। इसमें 'श्लेष' से अधिक काम लिया जाता है। अनुप्रास, श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकार हास्य में अधिक काम दे सकते हैं।

हिन्दी पत्रों में कभी-कभी विनोद का स्तंभ दिखाई पड़ जाता है पर उसमें प्रायः अनुवादित मज़ाक रहते हैं—सो भी अँग्रेजी से। हिन्दी के लेखकों वा सम्पादकों का ध्यान इधर बहुत कम गया है। अकसर हमें छोटे-छोटे मज़ाक सूझते हैं। यदि हम उनका संग्रह करते जायँ तो वे दैनिक वा साप्ताहिक पत्रों के काम आ सकते हैं। हास्य-प्रधान कविताएँ तो हमें अकसर हिन्दी पत्रों में देखने को मिलती हैं, कवि-सम्मेलनों में भी सुनाई पड़ जाती हैं, परन्तु नियमित रूप से इसके भी लिखनेवाले कम हैं। कभी-कभी कुछ लोग पैरोडी (Parody) लिखते हैं, परन्तु ऐसा करते समय उन्हें अपनी रचना में नवीनता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। अभी तक तो इनमें 'फैशन', 'परदा', 'पढ़ाई' आदि ही देखने में आती हैं। पैरोडी में सामयिकता के साथ-साथ सुरुचि भी होनी चाहिये।

हास्य क्या है? कैसे लिखना चाहिए? हँसाना आसान काम नहीं, शुद्ध हास्य की परख भी आसान नहीं। परन्तु हँसते सब हैं। और हँसी की वस्तु पर हम बिना कुछ सोचे ही हँस पड़ते हैं। ऐसा क्यों होता है? उसी को जानना हँसाने की तरकीब को जानना है।

हम तभी हँसते हैं जब कोई हँसने की बात होती है। पागलों और मूर्खों की बात हम नहीं करते। हमारे सामने जब दो विरोधी, बेतुकी बातें आती हैं तब हमको हँसी आती है। जब हम किसी बने-ठने सफेदपोश आदमी को

हवा से उड़ी हुई अपनी टोपी के पीछे कीचड़ में लदफद दौड़ते देखते हैं तब हम अपनी हँसी नहीं रोक सकते। ऐसा केवल इस लिए होता है कि हम दो विरोधी बातें एक साथ देखते हैं; कहाँ वह नजाकत, कहाँ वह बदहवास दौड़ना!

बेतुकापन, असाधारणता वा अलौकिकता ही हमारे मन में हँसी का उद्रेक करती है। यदि हम दो पैरों में दो तरह के जूते पहने, तो लोग हँसे बिना न रहेंगे। परन्तु इस प्रकार की बेतुकी बातों का आधार लेकर हास्यरस की रचना करना असाहित्यिक समझा जायगा, क्योंकि यदि ऐसा जान-बूझकर कोई करता है तो हम उसे असाधारण न समझकर उसकी आदत समझ लेते हैं और फिर वह 'आकस्मिक' नहीं रहता। जिसे हम बराबर देखते हैं उस पर हमें हँसी नहीं आती।

विरोधी बातों का सम्मेलन, वा बेतुकापन हँसी का उद्रेक करता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार हम 'पैरोडी' वा 'विरूप-काव्य' लिखते हैं। उसमें होता क्या है। एक गम्भीर कविता को लेकर हम उसकी शब्दावली को ऐसा पलट देते हैं कि उसका भाव बहुत साधारण हो जाता है।

हास्य का मार्ग तलवार की धार की तरह कठिन है। जरा सा इधर-का-उधर हुआ कि 'हास्य' का लोप हो जाता है। हम वहीं तक हँसते हैं जहाँ तक हमारी अनुभूति-शक्ति

को भारी आघात नहीं पहुँचता। यदि एक आदमी फिसल कर एकाएक गिर पड़ता है तो हमें हँसी आ जाती है। परन्तु यदि उसका परिणाम घातक हो जाता है—वह घायल हो जाय वा मर जाय—तो हमें उस पर दुख होने लगता है और हँसी तो दूर रही हमें करुणा वा पीड़ा का अनुभव होने लगता है। अब यह स्पष्ट है कि 'हँसी' का उद्रेक तभी होगा जब उसका 'परिणाम' बुरा न हो—उस से कोई भारी हानि न हो। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि जहाँ कहीं परिणाम बुरा हुआ वहाँ हास्य की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है। वरन् बचाना इसे होता है कि जिस व्यक्ति पर वह हानि या बुरा परिणाम बीते उससे हमें कोई सहानुभूति न हो। हमारा बैरी, यदि धोके से साँप के काटने से मरता है तो हम प्रसन्न होते हैं। यदि कोई चोर दीवार फाँदते समय कुएँ में गिर पड़ता है तो हमें हँसी आ सकती है। पर यदि हमारा मित्र फिसल कर पैर तोड़ लेता है तो हमें दुख होता है। इसका कारण बतलाते हुए मिस्टर विलियमसन एक स्थान पर लिखते हैं—

The explanation is that an element of personal danger, an element of possible pain have entered in and stemmed the springs of laughter in us—अर्थात् हानि की आशङ्का और कष्ट की भावी अनुभूति हमारी हँसी का मार्ग रोक देती है।

यदि कभी कहानी वा हास्यरस की रचना में कष्ट वा

दुख का वर्णन करते हुए 'हास्यरस' को रसाभास से बचाना हो तो लेखक को इसके प्रति सावधान रहना चाहिए कि उस पात्र के प्रति हमारी सहानुभूति न जागृत होने पावे जिस पर वह दुर्घटना बीतने वाली हो। केवल पात्र का 'मनुष्य' होना मात्र उसे हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं बनाता।

हास्य का उद्रेक एक दूसरे प्रकार यों होता है। जब हम मामूली बातों पर बहुत महत्व देते हैं तो हमें हँसी आती है। आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु का सविस्तार वर्णन उसे उपाहास्य बना देता है। छोटी-सी साधारण वस्तु का महत्वपूर्ण सविस्तार वर्णन वा महत्वपूर्ण वस्तु का ऐसा वर्णन मानों वह बहुत साधारण-सी बात हो—दोनों हँसाते हैं। ज़रूरत से ज्यादा किसी मामूली बात पर ज़ोर देना हमें हँसाये बिना नहीं छोड़ता।

कभी-कभी लेखक कोई महत्वपूर्ण बात न कहकर केवल चटपटी भाषा का प्रयोग कर, पाठकों का मनोरजन कर देता है। किसी बात को वह बड़ी गम्भीरतापूर्वक उठाता है मानों किसी भारी सिद्धान्त को व्याख्या करने जा रहा हो, पर वह कुछ न कहकर केवल शब्दों की पूर्ति कर देता है। उदाहरणार्थ—

एक सज्जन शराब पीते थे। लोगों ने बहुत समझाया पर वे किसी की न सुनते थे। एक दिन मित्र-मंडली बैठी थी। किसी ने इस पर जोर दिया कि आज आप इसकी

प्रतिज्ञा करें कि अब शराब न पीयेंगे। उक्त महोदय ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। आप प्रतिज्ञा करने खड़े हुए। बोले—

"मित्रो ! मैं आपकी बात नहीं टालता। मैं मानता हूँ शराब पीना बुरा है। मैं चाहता हूँ कि न पीऊँ। और न पीऊँगा। यों भी मैं केवल दो ही अवसर पर पीता था। आगे भी केवल दो अवसरों को छोड़कर कभी न पीने की प्रतिज्ञा करता हूँ। आशा है कि आप मुझे इतनी रियायत देने को तैयार होंगे।"

किसी मित्र ने पूछा, "वे कौन-कौन से अवसर हैं ?"

उक्त सज्जन कहने लगे, "मित्रो ! पहले मैं उस समय शराब की ज़रूरत महसूस करता हूँ जब पानी बरसता हो और दूसरे—"

मित्रगण उत्कंठित हो उठे। वे कहने लगे, "आप लोग मुझे आज्ञा दें कि जब कभी पानी बरसे मैं पी सकूँ—

मित्रों ने कहा, "ठीक है—कोई हर्ज नहीं। दूसरा मौका बतलाइये।"

उत्तर में सज्जन ने कहा, "मैं पहले उस समय शराब पीने की आज्ञा माँगता हूँ जब पानी बरसे और दूसरे उस समय जब पानी न बरसे। बस इतनी सी बात है।" सभी मित्र इस पर हँस पड़े।

कभी-कभी मजेदार उक्तियों से भी लेखक हँसी उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ—

'मुंशी जी को पुत्र उत्पन्न होने की उतनी खुशी न थी जितनी पुत्री न होने की ।'

लेखक अपने शब्दों, वाक्यों और प्रकाशन-शैली से भी रचना में हास्य का पुट ला सकता है ।

लेख बहुत लम्बा हो गया पर विषय भी साधारण न था । अतः अब अधिक विस्तार न देकर उसे समाप्त करना चाहिए । परन्तु उसके पूर्व कुछ बातें ऐसी हैं जिसे लेखकों को अवश्य जान लेना चाहिए और उन्हें अपनी नोटबुक में टाँक भी लेना चाहिए । जैसे—

(१) हास्य में मौलिकता की अधिक खोज करनी चाहिए ।

(२) केवल उत्तम रचना से प्रेम रखो ।

(३) रचना में गुण अधिक हो, प्रभाव अधिक हो, विस्तार कम ।

(४) प्रसिद्ध व्यक्तियों की हँसी न उड़ाओ ।

(५) अपने मज़ाक को ईर्षा और द्वेष से दूर रक्खो ।

(६) भद्दे मज़ाक कभी न लिखो, यह असभ्यता का द्योतक है ।

(७) जान-बूझकर गढ़े हुए मज़ाक मत रखो । ऐसा लिखो कि वे स्वाभाविक उक्ति जान पड़ें ।

# ११—बच्चे क्या पढ़ना चाहते हैं ?

बच्चों के साहित्य पर हमारे यहाँ अभी बिल्कुल ध्यान ही नहीं दिया गया है। सच पूछिए तो हिन्दीवालों ने अभी साहित्य को जातीय उत्थान का उपकरण ही नहीं समझा। अभी तक हमारे साहित्यिक साहित्य को केवल मनोविनोद और निरुद्देश्य वस्तु ही मानते हैं। परन्तु स्वतंत्र देशों में जहाँ कुछ अंश ऐसे साहित्य का भी प्रकाशित होता है जिसमें उपयोगिता का प्रश्न नहीं रहता वहाँ अधिकांश साहित्य ऐसा उत्पन्न किया जाता है जो राष्ट्रीय उत्थान का उपकरण बने ! स्वतंत्र जातियाँ पहले अपने को स्वतंत्र रखना चाहती हैं पश्चात् कुछ और। इस हेतु उन्हें एक निश्चित्, स्पष्ट कार्य्यक्रम के अनुसार काम करना पड़ता है।

किस के लिए किस प्रकार की वस्तु पाठ्य होगी इसका पता लगाकर उसका सृजन होना उचित है। हमारे यहाँ का शिक्षा-विभाग अभी इसकी परवा ही नहीं करता कि बच्चे क्या पढ़ना चाहते हैं। परन्तु अन्य देशों में 'बच्चों की रुचि' की उपेक्षा नहीं होती। विलायत के एक स्थान की शिक्षा-समिति ने बच्चों से प्रश्न करके यह पता लगाया

चाहा था कि वे किस प्रकार की वस्तुएँ पढ़ना चाहते हैं। उसका परिणाम निम्नलिखित सूचना से मिलता है।

ग्यारह सहस्र लड़कों के उत्तरों का संक्षेप इस प्रकार है—'आठ वर्ष की आयु के बच्चे पशुओं की कहानियाँ पसन्द करते हैं। नौ वर्ष के बच्चे स्काउटिंग की कथाएँ। दस वर्ष के पशुओं का चरित्र तथा कहानी। ग्यारह वर्ष के इतिहास तथा भूगोल। बारह वर्ष के स्काउटिंग की कहानियाँ। तेरह-चौदह वर्ष के अपने हाथों कुछ बनाने की तरकीब तथा खेल-कूद।'

यह तो हुई लड़कों की बात। लड़कियों का उत्तर भिन्न-भिन्न था। शिक्षा-समिति अपने रिपोर्ट में लिखती है—'आठ-नौ वर्ष की लड़कियाँ पौराणिक कथाएँ पसंद करती हैं। दस से तेरह वर्ष की लड़कियां कहानियाँ पसंद करती हैं। चौदह वर्ष की लड़कियाँ उत्साह-वर्धक कथाएँ, वीरोपाख्यान आदि पसंद करती हैं।'

ऊपर की सूचना से यह परिणाम निकलता है कि बच्चों के लिए इतिहास, भूगोल, पशु-संसार और खेल-कूद प्रिय विषय हैं।

उक्त कमेटी की रिपोर्ट से यह भी स्पष्ट होता है कि आठ वर्ष तक की आयु तक लड़के-लड़कियों की रुचि समान रहती है। प्रायः एक ही प्रकार की पाठ्य-वस्तु काम दे सकती है। नौ से ग्यारह वर्ष तक की आयु प्राप्त होते ही रुचि में विभिन्नता आने लगती है। बारह-तेरह वर्ष की

बालिकाओं में बालकों के प्रति आकर्षण उदय हो जाता है। उन्हें बालकों की कथाएँ पसन्द आती हैं, अर्थात् उनमें 'सेक्स' की अनुभूति बढ़ने लगती है। एक बात और है: आज कल के बच्चों को हास्य वा विनोद बहुत पसंद है। परन्तु उच्च श्रेणी का हास्य उन्हें दरकार नहीं। वे उसे नहीं समझ पाते। मार-पीट वा युद्ध की कहानियाँ यद्यपि बहुत पढ़ी जाती हैं परन्तु बच्चे उन्हें अधिक नहीं पसन्द करते।

यह तो हुई विलायत के बच्चों की रुचि की बात। हमारे देश में किसी ने बच्चों की रुचि जानने का प्रयत्न ही नहीं किया है। यदि बालकों के पत्रों के संपादक इस प्रकार की कोशिश करें तो ऐसे बहुत ही उपयोगी तथ्य का पता चले; जो लेखकों और प्रकाशकों—दोनों के काम के हों।

बच्चों के लिए लिखना बड़े उत्तरदायित्व का काम है। उनके लिए कैसे लिखा जाय, यह कहना उतना आसान नहीं, जितना यह बतलाना कि लिखते समय क्या-क्या न लिखा जाय। बच्चों का साहित्य निर्माण करने की इच्छा रखनेवाले लेखकों को बच्चों के मनोविज्ञान का ज्ञान रखना चाहिए। साधारण पाठक और बाल पाठक में महान अंतर है। साधारण पाठक पढ़ा-लिखा साहित्य और समाज की रुचि का अनुभव रखनेवाला तथा स्वयं अपनी रुचि रखनेवाला होता है। बाल-पाठक अपने क्षेत्र में कोरे आते हैं। उन्हें केवल अक्षर-ज्ञान होता है—रुचि, रिवाज, साहित्यिक ज्ञान आदि नहीं होता। उनकी पसंदगी का

आधार होता है 'सूक्ष्म अज्ञात प्राकृतिक अनुभूति'। वे स्वय नहीं जानते वे क्या पसंद करेंगे। स्वभाव से प्रेरित होकर वे जो एक बार पसंद कर लेते हैं उसे कुछ काल तक पसंद करते रहते हैं—उस समय तक जबतक उनके मस्तिष्क और शरीर का विकास, उनकी रुचि में परिवर्तन न उपस्थित कर दे। अतः, बाल-पाठक पढ़ने के पूर्व किसी वस्तु की प्रतीक्षा नहीं करता। सारे विषय उसके लिए नवीन रहते हैं। सभी के प्रति उसे कुतूहल रहता है पर वह समझ किसे सकेगा इसका ध्यान लेखक को रखना होगा। अवस्था के अनुसार बाल-पाठकों में रुचि-परिवर्तन होता रहता है।

अब यह स्पष्ट है कि बालकों की अपनी कोई पक्की पसंद नहीं। आप जो उन्हें पढ़ने को देंगे उसे वे धीरे-धीरे पसंद करने लगेंगे। अब इसका उत्तरदायित्व आप पर है जिस प्रकार चाहें उनके मस्तिष्क का विकास करें।

बच्चों में आलोचनात्मक वृत्ति बड़ी प्रबल होती है। वे पसंद और नापसंद करना जानते हैं। क्यों—चाहे इसके लिए उनके पास दलील न हो। आलोचनात्मक ज्ञान के विकास के पूर्व ही बच्चों में 'रुचि' का विकास हो जाता है। परन्तु इसके साथ-साथ वे बहुत दिनों में अपने अनुभव से अपनी रुचि की वस्तु ढूँढ़ सकते हैं। कारण यह है कि उनका अनुभव कम रहता है और वे नहीं जानते कि अच्छे-बुरे की पहचान किस आधार पर करें। यही

कारण है कि बच्चों की लाभ-हानि की देख-रेख सयानों पर रहती है। उन्हें पाठ्य पुस्तकें देते समय लेखक को उनकी लाभ-हानि का ध्यान रखना चाहिए।

बच्चों के लिए लिखते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपनी रचना में कोई चटपटी बात अवश्य हो, जो बच्चों को प्रभावित करे—कोई मज़ाक, कोई कार्य्य, कोई वर्णन जो बच्चों को पसंद आये। यदि आपकी रचनाएँ आपको मज़ा दें तो समझिये बच्चे उसे पसन्द करेंगे।

कभी-कभी हमारे सामने भाषा और विषय का प्रश्न उठ खड़ा होता है। हम अपने में संकल्प-विकल्प करने लगते हैं कि इस विषय को, इस विचार को लड़के न समझ पावेंगे, यह हास्य उनके लिए कठोर पड़ेगा। परन्तु यदि हमारी रचना में लिखने का तरीक़ा चटपटा है, बीच-बीच में बच्चों का ध्यान लगता जाता है तो वे सब समझ लेंगे। बच्चों की कल्पना-शक्ति तेज़ होती है। वे प्रत्येक वस्तु को अपनी कल्पना से अपने मनोरंजन की सामग्री बना लेते हैं, और अपरिचित शब्दों और विचारों का परिचय-मात्र बच्चों का मनोरंजन करता है। जिसे वे समझते नहीं—उसे केवल सुनकर वे रटते रहते हैं। उनका मनोरंजन तो हो ही जाता है।

## १२—लोमहर्षक आख्यान

हिन्दी में लोमहर्षक आख्यान कहने भर को भी नहीं मिलेगा। गद्ययुग के आरंभ में ऐयारी वा जासूसी श्रेणी की निम्नकोटि की कुछ रचनाओं का अच्छा प्रचार हुआ, परन्तु न उनकी भाषा साहित्यिक थी और न वे परिष्कृत रुचिवालों के लिए लिखी ही गयी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि आजकल इस श्रेणी के आख्यानों का नाम लेते ही लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। यह सत्य है कि साहित्यिक आख्यान निश्चय लोम-हर्षक आख्यानों से अधिक श्रेयस्कर हैं। परन्तु कला की दृष्टि से दोनों में कोई अंतर नहीं। साहित्यिक कथा-साहित्य, जीवन की व्याख्या करने में अधिक समर्थ है—मानव जाति का उससे कल्याण हो सकता है। परन्तु जिस देश में पढ़े लिखे लोगों की संख्या अधिक है वहाँ सभी केवल 'साहित्यिक' ग्रंथ नहीं पढ़ सकते। उन्हें अवकाश का समय बिताने का बहाना चाहिए। इसी प्रकार जिस देश में सभी पढ़े-लिखे नहीं वहाँ साहित्य-मर्मज्ञ कितने होंगे। परन्तु सरस, मनोरंजक साहित्य के प्रलोभन से बहुत लोग पढ़ना-लिखना सीख लेते हैं। लोगों का यह कहना, कि 'चंद्रकान्ता' ने कितनों को हिन्दी सिखाया कुछ सार रखता है।

हमारे देश में सामयिक पत्रों के खरीदारों की संख्या कितनी नगण्य है। इसका प्रधान कारण एक यह भी है कि हमारे 'पत्र' सभी साहित्यिक बनने की सनक में रहते हैं। यद्यपि हमारे देश में पढ़े-लिखों की संख्या बहुत कम है, परन्तु यदि हमारे पत्रकार उन थोड़े पढ़े-लिखे लोगों की योग्यता को ध्यान में रखकर पत्र निकालें तथा पठन-सामग्री प्रस्तुत करें तो निश्चय उसके पाठकों की संख्या वर्तमान संख्या से दसगुनी हो सकती है। विदेश में जहाँ प्रकाशकों का उद्देश्य पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत कर पाठकों का उचित मनोरंजन करना होता है वहाँ वे लोमहर्षक आख्यानों को 'असाहित्यिक' कहकर दूर नहीं कर देते। और क्या आप समझते हैं हमारे देश के—कम-से-कम हिन्दी के—सभी पत्रों में समस्त 'मैटर' साहित्यिक ही रहता है। हमारी साहित्य की धारणा कितनी असपष्ट है। ठीक उतनी ही जितनी हम में धर्म की भावना है। हम धर्म की आड़ में सब कुछ करते हैं। फलतः हम अपने को भुलावे में रखे रहते हैं कि हमारे सारे कार्य्य पुण्यकार्य हैं। यदि हम उपादेयता की कसौटी पर कसकर प्रत्येक कार्य्य करें तो वह अधिक कल्याणकर होगा। न सभी पाठक साहित्यिक हो सकते हैं और न सब पत्रकार कलाकार बन कर जीवित रह सकते हैं। पाठकों को ध्यान में रखकर उन्हें पाठ्य-सामग्री देनी होगी।

हमें विषयान्तर में इसलिए जाना पड़ा क्योंकि यह

आवश्यक था कि हम इस बात को स्पष्ट कर दें कि उच्च-कोटि की कलात्मक रचनाओं का 'फेर' बुरा है। सभी यदि 'सिद्ध' नहीं हो सकते तो व्यर्थ 'भभूत' रमाकर दुनिया को ठगने से लाभ ! अपने योग्य अपना व्यवसाय चुनना अच्छा और ईमानदारी का काम है। इसमें हँसाई का भय नहीं। इसी समाज में कोई बारीक काम करता है कोई मोटा। सभी अपने योग्य काम का सुन्दर रूप से प्रतिपादन करते हैं। यह कहना व्यर्थ है, स्वर्णकार का काम कुम्हार के काम से अच्छा है। दोनों की अपना कला है और दोनों को अपनी-अपनी कला में दक्ष होना पड़ेगा। समाज में दोनों की आवश्यकता है, उपादेयता है। अब हम मुख्य विषय पर आते हैं।

लोमहर्षक आख्यान किसे कहते हैं ? लोमहर्षक आख्यान वे हैं, जिनमें 'रोमांचकारी तत्व' की प्रधानता हो। जिसे पढ़कर कुतूहल बढ़े, आश्चर्य बढ़े, हर्ष, दुःख अपनी चरम सीमा पर पहुँचें। इस प्रकार के आख्यानों की दो प्रधान श्रेणियाँ हैं—जासूसी कथानक और रहस्यात्मक कथानक। जासूसी कथानकों में 'अपराध' के रूप में समस्या सामने आती है। रहस्यात्मक कथानकों में कथा-वस्तु का संचालन इस प्रकार होता है कि उसकी गति, मार्ग पाठकों को भीषणता का अनुभव कराता है। वस्तुतः दोनों में 'रहस्य' तत्व मुख्य होता है। दोनों में पाठकों की 'जिज्ञासा या कुतूहल' को 'चरम' पर पहुँचाए रखना होता है। जो

रचना जितनी ही हृदय दहलानेवाली होगी वह उतनी ही सफल होगी।

इस प्रकार का लोमहर्षक आख्यान लिखना आसान नहीं। इस हेतु उसकी कला का अध्ययन करना पड़ेगा। सेन्ट जान इरविन ने एक बार कहा था, "साधारण कल्पनाशील, पढ़ा-लिखा व्यक्ति यदि लिखना जानता हो तो वह साधारण उपन्यास लिख सकता है।" इसी प्रकार एक अन्य उपन्यासकार का कहना था कि साधारण लेखक भी यदि मेहनत करे और नोटबुक रखे तो अपने अनुभव की ही सहायता से वह उपन्यास लिख डाल सकता है। परन्तु यह कथन 'उपन्यास' के विषय में सत्य हो सकता है 'लोमहर्षक' श्रेणी के आख्यानकों के विषय में नहीं। प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास-लेखक एडगर वालेस ने अपने शिष्य मशलेएड को शिक्षा दी थी, "लिखना बन्द करो— पहले अपने व्यवसाय को सीख लो। तीस वर्ष की आयु को प्राप्त हुए बिना कुछ न लिखना। फिर तुम देखोगे कि लोमहर्षक आख्यान कितना आसान है और इससे कितना धन आता है।" कहने का सारांश यह था कि पहले अपने व्यवसाय की शिक्षा लो फिर कार्य्य आरम्भ करो।

जासूसी आख्यानकों के लेखकों को सब से प्रथम पुलिस के तहकीकात और 'अपराध-विज्ञान' का ज्ञान होना चाहिए। हमारे देश में तो इस हेतु बहुत ही कम प्रकाशित सामग्री है। हां, थोड़ा-बहुत काम समाचार-पत्रों में

प्रकाशित होने वाले फ़ौजदारी के मुक़दमों से चलता है। लेखकों को इसका अध्ययन करते रहना चाहिए। केवल अँग्रेजी के जासूसी उपन्यास तथा कहानियों को पढ़ कर हिन्दी साहित्य तथा हिन्दुस्तानी पाठकों की भूख सन्तुष्ट नहीं की जा सकती। भारतीय पाठकों के लिए भारतीय आख्यान बनाने पड़ेंगे। परन्तु लेखन-शैली का अध्ययन करने के निमित्त अच्छे अच्छे लोमहर्षक आख्यानों को पढ़ना बुरा नहीं। यहां उद्देश्य, कलाकार की कुशलता और हस्तलाघव से परिचय प्राप्त करना रहता है। इस दृष्टि से अध्ययन करते समय हमें आख्यान की रोचकता पर अधिक ध्यान न देकर उसके संपादन-कुशलता पर ध्यान देना चाहिए। लेखक मनोरंजन के लिए नहीं पढ़ता वह लिखना सीखने के लिए पढ़ता है।

प्रत्येक आख्यान में 'कथा-वस्तु' होती है। घटना की क्रमबद्ध शृङ्खला होती है। परन्तु उन्हीं घटनाओं के कार्य्य-कारण रूप के क्रम को हम कथा-वस्तु कहते हैं। अमुक का देहान्त हो गया। उसकी पत्नी का देहान्त हो गया। दो घटनाएँ हैं, जो काल-क्रमेण एक के बाद आती हैं। दोनों केवल 'कथा' होंगी। परन्तु अमुक के मरने के पश्चात् उसके विरह में उसकी पत्नी का मरना 'कथा-वस्तु' बन जाता है। 'कथा-वस्तु' में घटनाओं का वर्णन रहता है पर 'कार्य्य-कारण' का सम्बन्ध उनमें प्रधान है।

रहस्यात्मक आख्यानों की उत्पत्ति में तीन विधान

प्रयुक्त होते हैं। आरम्भ में साधारण घटनाओं का काल-क्रम से वर्णन, फिर कार्य्य-कारण का सम्बन्ध सूत्र स्थापित करना—अन्त में समस्त कथा के तत्वों को काल-क्रम, कार्य्य-कारण की दृष्टि से ऐसा सजाना कि समस्त एकत्र होकर चमत्कारपूर्ण रहस्यात्मक वा जासूसी आख्यान बन जाँय। इन्हीं तीन विधानों के समाहार को हम 'प्लाट' वा कथा-वस्तु कहते हैं। लेखक को चाहिये कि वह किसी एक अपराध, अपराधी और एक जासूस की कल्पना करे जो सारा रहस्य खोले। साधारण आख्यानों में होता क्या है। प्रथम किसी अपराध के होने के सारे कारण बतलाये जाते हैं, परिस्थति का वर्णन होता है, फिर उस अपराध-पूर्ण घटना का सविस्तार वर्णन होता है—अन्त में अभियुक्त का पता लगा कर वह रहस्य खोला जाता है। परन्तु यह क्रम 'रहस्यात्मक आख्यान' का नहीं है। उसका क्रम कुछ और होगा। जैसे—

राम मारा गया—किसी ने हत्या की—किसी को पता नहीं किसने यह काम किया—श्याम इसका पता लगाता है कि राम की हत्या कृष्ण ने की, क्योंकि वह उसका धन लेना चाहता था। यह है रहस्यात्मक आख्यानों का क्रम। इन्हीं तत्वों को बढ़ाकर, विस्तार देकर, नमक-मिर्च मिला कर आप पाँच सौ पृष्ठ का उपन्यास बना सकते हैं।

'प्लाट' कहाँ मिलें—यह वह साधारण प्रश्न है जो सब लेखकों को परेशान करता रहता है। अनुभवी लेखकों का

कथन है कि प्लाट का 'विचार-विन्दु'—हत्या करने के नवीन उपकरण वा विधि से मिलता है। हत्या जितने ही रहस्यात्मक ढङ्ग से होगी, उतना ही 'सनसनीदार' आख्यान होगा। फिर वह रहस्योद्घाटन में उतना ही रोचक और दिल दहलानेवाला होगा। प्रसिद्ध लेखक कानन डाइल ने एक बार कहा था—"सर्व प्रथम आवश्यक है 'विचार-विन्दु' की प्राप्ति। कोई नया तरीका सूझते ही उसे जितना हो सके छिपाने का प्रयत्न करो, और ऐसा प्रयत्न करो कि रहस्योद्घाटन में लोगों को भ्रम हो।"

इस प्रकार के 'विचार-विन्दु' हर जगह मिल सकते हैं—'प्रेस-कटिंग', पुस्तक, साधारण बातचीत। कभी-कभी साधारण कथन से भी 'विचार-विन्दु' मिल जाते हैं। लेखक यदि 'चैतन्य' है, अपने व्यवसाय में कुशल और सजग है तो उसे विचारों की कमी नहीं।

विचार-विन्दु प्राप्त होते ही उसे बढ़ाने की कोशिश होनी चाहिए। मिस्टर सिड जी० हेजेज़ (Sid G. Hedges) कहते हैं—"पहले मैं विचार ढूँढ़ निकालता हूँ फिर हफ्तों उस पर सोचता रहता हूँ। मेरे आख्यान के पात्र साकार होने लगते हैं। मुझे हर तरह कि दिक्कत रहती है। न मैं प्रतिभावान् हूँ, न मौलिक, परन्तु मैं परिश्रम से सब कुछ कर लेता हूँ। मुझे उनसे ईर्ष्या होती है जिनके मस्तिष्क में विचार उबलते रहते हैं।

"फिर मैं अपनी नोटबुक में आख्यान के अध्याय बना

कर नोट करता हूँ और उनका 'विषय' निर्धारित करता हूँ। प्रथम दस अध्याय, फिर बीस अध्याय, अन्त में मैं छत्तीस अध्याय में सम्पूर्ण आख्यान लिख डालता हूँ।"

लेसली डेस्पार्ड (Leslie Despard) अपना तरीका बतलाते हैं। आपका कथन है कि आरम्भ आसान होता है। पहले मैं किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना करता हूँ जिसे मारना है, फिर मैं सोचता हूँ उसकी हत्या कैसे कराई जाय। फिर उसके रहस्योद्घाटन का उपाय सोचता हूँ। जितना ही विचित्र और आश्चर्यजनक वा रहस्यात्मक वह 'हत्या' होगी उतना ही रहस्यात्मक और सनसनीदार उसका पता लगाना होगा। अन्त में मैं समझता हूँ कि आख्यान को सम्पूर्ण सोचना ही समय लेता है—लिखना नहीं।"

रहस्यात्मक आख्यान में 'प्रेम' रखना यद्यपि आवश्यक नहीं, पर लोग रखते हैं। बेसिल हॉगंथ का कहना कि लोमहर्षक आख्यानों में 'प्रेम' आवश्यक नहीं—फलतः इसे बरबस आख्यान में घुसाना पड़ता है। वान डाइन (Van Dine) का उपदेश है कि नये लेखकों को आरम्भ में इस से सरोकार न रखना चाहिए। परन्तु एच० जी वेल्स की राय है कि यदि आख्यान में लेखक कहीं शीघ्र ही किसी 'स्त्री' पात्र का प्रवेश नहीं कराता तो उसे पाठक पढ़ना नहीं पसन्द करते। इसलिए उसे विवश होकर करना ही पड़ता है। कुछ भी हो एक बात स्मरण रखनी चाहिए

—जासूसी उपन्यासों में 'प्रेम' रोमान्स के पद को नहीं पहुँचता। अतः, उस 'प्रेम' का विकास नहीं होता। बस रोचकता की दृष्टि से आख्यान में कहीं एक 'पात्री' आ जानी चाहिए। उदाहरण के लिए अपराधी की 'भार्या' अथवा वह स्त्री जिसके कारण हत्या हुई। छोटी-छोटी कहानियों में तो हम आसानी से 'प्रेम' को दूर रख सकते हैं। वहाँ लोमहर्षक वर्णन वा रहस्योद्घाटन पाठकों को सन्तुष्ट करने के लिए काफी होता है। पर ऐसे उपन्यासों में जरा चटपटापट के लिए पात्रों में 'स्त्री' पात्र भी रख देना ठीक होता है—केवल पाठकों के सन्तोष के लिए—कला की दृष्टि से नहीं।

यदि लोमहर्षक आख्यान लेकर उपन्यास लिखना हो तो कैसे क्या करें ? पाश्चात्य देशों में लेखकों का व्यवसाय 'प्रतिभा' के भरोसे नहीं चलता। उन्हें पुरस्कार-हीन कोरी प्रशंसा से अपना पेट भरना नहीं आता। उन्हें परिश्रम के बदले ठोस ऐहिक सुख चाहिए। वे इसी हेतु परिश्रम करते हैं कि उन्हें व्यवसाय से पैसे मिलें। ऐसे लेखकों के लिए अनुभवी लेखक एडगर एलेन पो लिखते हैं—"रचना की किसी बात के लिए 'संयोग' और 'सूझ' पर भरोसा न करो। समस्त प्लाट धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए—कार्य्य-कारण का सम्बन्ध गणित की भाँति सच्चा होना चाहिए। कहीं कोई अन्तर न हो।"

इसी हेतु अनुभवी लेखकों का कथन है कि उपन्यास

लिखने के पूर्व सम्पूर्ण ढाँचा बना लेना चाहिए और उसमें आवश्यक बातें—'पात्र' और 'परिस्थिति' भली भाँति निश्चित होनी चाहिए। जो लोग ऐसा नहीं करते उनकी क्या दशा होती है। इस पर फ्रैन्क स्विनटरटन ( Frank Swinnerton ) का वर्णन सुनिए। आप लिखते हैं—"उपन्यास आरम्भ हो गया। दस बीस-पचास पृष्ट तो सपाटे से लिखा गया मानों सिर्फ लिखने भर की कसर थी। धीरे-धीरे जोश ठंढा पड़ने लगा। लेखक के जोश और तरङ्ग का दिवाला होने लगा—वह किसी तरह आगे चलने लगा, पृष्ठपूर्ति होने लगी--फिर उसकी भी गति रुकने लगी। अंत में उपन्यास अधूरा ही रहेगा—लिखने की हिम्मत ही न हुई।"

इस प्रकार के आख्यानों में परिश्रम की अधिक आवश्यकता है। इस हेतु अतःप्रेरणा वा तरंग की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। निरन्तर परिश्रम से काम पूरा होगा। लिखने के विषय में अनेक मत हैं परन्तु सभी अनुभवी लेखकों का कहना है कि प्रतिदिन कुछ न कुछ नियमपूर्वक लिखना चाहिए। प्रसिद्ध उपन्यास चन्द्रकान्ता के लेखक श्री देवकी नन्दन खत्री के विषय में कहा जाता है कि वे बिला नागा प्रतिदिन कई घण्टे उपन्यास लिखवाया करते थे।

लोमहर्षक आख्यानों की रचना-प्रणाली पर विषद रूप से लिखने का यहां अवसर नहीं। इस समय केवल दो

चार बातों की ओर ध्यान दिलाते हैं। इस प्रकार के आख्यानों में 'कुतूहल' प्रधान तत्व है! समस्त रचना में पाठकों के कुतूहल को उत्तेजित रखना उचित है। कहानी की कथन-प्रणाली पर भी ध्यान रखना होगा। कौन कहे? कहने की दो रीतियां हैं। एक तो वह जिसमें लेखक 'उत्तम पुरुष' बनकर अपना अनुभव लिखता है और वह 'मैं' वा 'हम' के रूप में पाठकों के सामने आता है। दूसरा वह जिसमें लेखक केवल 'अन्य पुरुष' की भांति वर्णन करता है। दोनों शैली में गुण-दोष हैं। पहली प्रणाली अधिक विश्वास उत्पन्न करने वाली होती है, परन्तु दूसरी प्रणाली में स्वाधीनता अधिक रहती है। 'मैं' वही बतलायेगा जो उसका निजी अनुभव हो। परन्तु अन्य पुरुष बनकर लेखक जो चाहे लिख सकता है। अतः अधिकतर यही अच्छा समझा जाता है कि जासूसी आख्यान अन्य पुरुष के रूप में लेखक लिखे। कथोपकथन बहुत छोटे-छोटे और मतलब के होने चाहिए। उनमें यथार्थता का अधिक रङ्ग होना चाहिए—यह नहीं कि कहनेवाला बस ग्रामोफोन की तरह कहता ही जाता है। यदि 'कथन' लम्बा हो तो बीच-बीच में ऐसा वर्णन हो, जिसमें पाठक समझे कि वह जीवित व्यक्ति है जो बोल रहा है—जैसे उसकी भावभङ्गी, उसकी चेष्टा, उसके भावावेश, उसके स्वर का आरोह-अवरोह आदि। मिस्टर हार्गथ कहते हैं—
'To attempt to make the reader assimilate

reams of unbroken speech is the best way to bore him and lose his attention"—पाठकों को उबाने और उनकी दिलचस्पी मिटाने का सब से अच्छा तरीका है उन्हें पृष्ठ के पृष्ठ कथोपकथन पढ़ने को देना।

लेखक और पाठक का वही सम्बन्ध है जो वक्ता और श्रोता का है। कहते हैं "किंकरिष्यिति वक्तारो यदि श्रोता न विद्यते।"—अर्थात् जहां सुननेवाले नहीं वहां वक्ता महोदय क्या करेंगे। इस कथन में जो सत्य है वह लेखक पर भी लागू होता है। यदि पाठक ऊब गये, पुस्तक एक ओर रख दी, तो लेखक का सारा परिश्रम व्यर्थ है। इसलिए लेखक को 'पाठक' की चित्त-वृति का सदा ध्यान रखना चाहिए। हमारे भारतीय, हिन्दी के लेखक पाठकों को साहित्य का एक व्यर्थ अग समझते हैं। वे तो लिखते हैं स्वांतःसुखाय! केवल अपने सुख के लिए। पर अन्य देशों के लेखक पाठकों को कभी नहीं भूलते। उनका कहना है कि लोमहर्षक आख्यानों में बीच-बीच में हास्य का पुट जरूरी है अन्यथा पाठकों का मन ऊब जाता है। 'कुतूहल' के निरंतर 'चरम' पर रहने के कारण रोमांचकारी घटनाओं का निरन्तर वर्णन पढ़ते-पढ़ते पाठकों का मस्तिष्क उत्तेजित हो जाता है, अतः बीच-बीच में 'व्यंग-विनोद' में उसे विश्राम मिलता है।

आख्यान समाप्त करने पर उनका 'नामकरण' बहुत

महत्व-पूर्ण कार्य है। नाम में बड़ा आकर्षण होता है। रहस्यात्मक, रोमांचकारी आख्यानों का नाम रखते समय इस पर ध्यान रखना चाहिये कि नाम 'रहस्यपूर्ण' न हों। 'शीर्षक' का उद्देश्य है पाठकों के मन में सुखकर जिज्ञासा उत्पन्न करना। 'शीर्षक' को स्वयं पाठकों के लिए भावी आनन्द का शकुन होना चाहिए। शीर्षक—नये हों, छोटे हों, चुभते हुए हों, कुतूहल-वर्धक हों और सरल तथा सुबोध हों। रहस्यात्मक आख्यानों का शीर्षक कभी ऐसा न हो जिससे समस्त रहस्य का भेद खुलता हो। सानुप्रास शीर्षक गंभीरता के प्रदर्शक नहीं। रोमांचकारी आख्यानों के शीर्षक गंभीर, रहस्यपूर्ण तथा लोमहर्षक होने चाहिए।

## १३—उपनाम की आवश्यकता

स्मरण आता है कि कभी रामनरेश जी त्रिपाठी ने किसी लेख में उपनामों की हँसी उड़ाई थी। यद्यपि वह लेख केवल 'यों ही' लिखा गया था पर उसमें एक भावना उपस्थित थी—वह यह थी कि लोगों ने उपनामों के प्रश्न पर कभी गम्भीरता-पूर्वक विचार ही नहीं किया। साहित्य-क्षेत्र में लेखकों की प्रत्येक प्रवृत्ति पर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा। यदि वह उनके

व्यवसाय के लिए हानिकारक है तो उसके प्रति लोगों को सचेत करना होगा; यदि हितकर है तो उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालना होगा। आज हम 'उपनाम' के प्रश्न पर इसी दृष्टि से विचार करते हैं।

पुराने ज़माने में कवि लोगों ने 'उपनाम' रखने की प्रथा निकाली थी। कारण यह था कि छन्दों को चोरों से बचाने के लिए, उनके रचयिताओं की स्मृति चिरस्थायी रखने के हेतु उनमें कहीं लेखक का नाम लाना आवश्यक समझा जाता था। छन्दों में पूरा नाम रखना कठिन होता था क्योंकि 'तुक' का ध्यान रखना होता था। इसलिए कवि गण छोटा-मोटा नाम रख लेते थे। उसे उपनाम कहते थे—जैसे बेनी, मतिराम, दास, तुलसी, सूर आदि। उस समय न तो छापाखाना था न कापीराइट कानून।

वर्तमान युग में उपनामों की आवश्यकता उपरोक्त दृष्टि से बिलकुल ही नहीं रही। परन्तु इस युग में भी उपनामों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है और इसे लोग केवल 'रिवाज' नहीं मानते। प्रश्न होता है नवीन लेखक 'उपनाम' का उपयोग किस प्रकार करें। मिस्टर विलियम सन कहते हैं कि 'जिन लेखकों को लेखन-क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व जनता जान चुकी है उन्हें कभी उपनाम न रखना चाहिए। यदि वे उपनाम रखेंगे तो उनकी सारी कीर्ति और प्रसिद्ध लेखन-क्षेत्र में उनको लाभ न पहुँच सकेगी।' ठीक ही है। लेखक का प्रथम उद्देश्य होता है

पाठकों को आकर्षित करना । यदि पाठक उसे पहले ही से जानते हैं तो वे उसकी लिखी वस्तु तुरन्त पढ़ने को तैयार हो जायँगे । पं० जवाहरलाल जी वा महात्मा गाँधी यदि उपनाम रखें तो उनकी रचनाएँ निश्चय विफल होंगी। उन्हें इसकी आवश्यकता ही क्या है ।

परन्तु 'उपनाम' रखना कभी-कभी आवश्यक भी होता है--विशेष कर आख्यान-लेखक को । कहानी व उपन्यास का लेखक स्वभावतः अपने प्लाट और पात्र को अपने आस-पास के वातावरण से लेता है । कभी-कभी उसे इस बात का सङ्कोच होता है कि कहीं उसकी रची कहानियों में अपनी झलक पाकर उनके मित्र नाराज न हो जायँ । इसी भय से वह कितने सुन्दर प्लाट और पात्र की सृष्टि से वंचित रह जाता है । इसमें साहित्य की हानि है । ऐसी दशा में उसे 'उपनाम' के आवरण में छिपकर लिखना चाहिए । कभी-कभी नवीन लेखकों का भी उपनाम रख-कर लिखना अच्छा होता है । साहित्य में प्रवेश करते ही किसी को सफलता प्राप्त होने की पूर्ण आशा नहीं रहती। अतः नवीन लेखक यदि उपनाम रखकर आरम्भ करता है तो लोग उसकी रचना पढ़कर उसके गुण-दोष के अनु-सार उसका आदर वा निराकरण करते हैं । यदि वह नाम दे देता तो कभी-कभी उसके अपरिचित नाम को देखकर ही लोग उसकी रचना छोड़ देते हैं । ऐसी दशा में 'उप-नाम' उसे उपेक्षा से बचाता है । अँग्रेजी के कई प्रसिद्ध

लेखकों ने पहले-पहल इसी भय से उपनाम रखकर लिखना आरम्भ किया था। धीरे-धीरे उनका नाम प्रसिद्ध हो गया। हमारे प्रसिद्ध उपन्यास लेखक श्रीप्रेमचन्द जी पहले उर्दू में 'नवाब राय' के नाम से लिखते थे। हिन्दी में भी वे 'प्रेमचन्द' के नाम से साहित्य-क्षेत्र में आये। धीरे-धीरे प्रेमचन्द उपनाम ही उनका नाम हो गया।

जो लेखक व्यवसायी नहीं है और जो केवल विनोदार्थ वा स्वांतःसुखाय लिखना चाहते हैं, उनके लिए भी 'उपनाम' रखना अच्छा होता है। 'उपनाम' वे इस हेतु रखते हैं कि उन्हें अपने असली परिचित रूप में जनता के सामने आने में संकोच होता है और वे चाहते भी नहीं कि लोग कहें कि "अजी आप जैसे आदमी क्या कहानी लिखने के फेर में पड़े।" ऐसी दशा में 'उपनाम' उन्हें इन बखेड़ों से बचाता है और उनकी लेखन-पिपासा शान्त करते हुए साहित्य को अच्छी रचनाओं से वंचित होने से बचाता है।

हमारे समाज में हर तरह के लोग हैं। ऊँचे-नीचे पद आसीन कितने ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी इच्छा लिखने की होती है और यदि वे अपने अनुभव, अपनी अनुभूति, तथा विचार लिपिबद्ध कर दें तो साहित्य और समाज दोनों का महान् कल्याण हो। पर वे इस भय से नहीं लिखते कि लोग उन पर हँसेंगे। कहेंगे, 'यह आप के पद को शोभा नहीं देता ' ऐसे लोगों को अवश्य 'उपनाम' रखकर लिखना चाहिए।

उच्च श्रेणी का साहित्य लिखनेवाले भी कभी-कभी सरस, सरल वा साधारण विषयों पर अपना विचार प्रकट करना चाहते हैं, परन्तु उन्हें संकोच होता है कि लोग उनकी हँसी उड़ावेंगे, उनपर आक्षेप करेंगे। इस भय से वे लिखते ही नहीं। ऐसी दशा में उन्हें 'उपनाम' रखकर लिखना चाहिए। इस प्रकार का मेरा अपना अनुभव है। लिखना आरम्भ करके सर्वप्रथम मैंने गंभीर विषयों का अध्ययन करके उन पर लेख लिखना आरंभ किया था। इस प्रकार सन् १९२३ से सन् १९३३ तक मैंने अपने असली नाम (सत्यजीवन वर्मा) से लिखता रहा। सन् १९३३ में जब लाहौर से 'भारती' नामक मासिक पत्रिका निकलने को हुई तो उसके सम्पादकों ने आग्रह किया कि मैं कुछ 'सरस साहित्य' पर लिखूँ। मैंने उत्तर दिया कि इस प्रकार के विषयों से तो मैं बहुत दूर रहा और लिखते भी संकोच होता है। उनके बहुत आग्रह करने पर मुझे विवश होकर कुछ लिखने का वचन देना पड़ा। तकाजे पर तकाज़ा आने लगा। वे चाहते थे कि मेरी रचना 'भारती' के प्रथमांक में छपे। मैं वचन देकर सकट में पड़ा था। सोचता था लिखूँ तो कैसे लिखूँ। लोग जब देखेंगे कि कारक-चिन्हों की उत्पत्ति, तथा भाषा का विकास—आदि के लेखक, अब हास्य तथा कहानी लिख रहे हैं तो वे बड़ी हँसी उड़ायेंगे। और 'भारती' के सम्पादकों का आग्रह था कि मैं ऐसी ही चीज़ लिखूँ जो सर्वसाधारण के योग्य हो। अन्त में जब मुझे कोई

रास्ता न मिला तो मैंने उपनाम की शरण ली और मैंने 'श्रीभारतीय', नाम रख अपना 'गृहिणी' नामक शब्द-चित्र भारती में प्रकाशनार्थ भेजा। रचना की सफलता और प्रशंसा से प्रोत्साहित होकर मैंने फिर और बहुत-सी कहानियाँ, प्रहसन आदि उपनाम से लिखे जो हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में बराबर निकलते रहे। इस तरह मैंने पूरे वर्ष भर तक अपना नाम गुप्त रखा। इस बीच में एक संपादक ने मुझे इसका की प्रलोभन दिया कि वे मेरा पुरस्कार बढ़ा देंगे यदि मैं अपना चित्र और असली नाम प्रकट कर दूँ। परन्तु मेरी हिम्मत न हुई और मैंने पुरस्कार का लोभ छोड़कर साल भर तक अज्ञात रहना ही उचित समझा। पीछे मेरा असली नाम प्रकट हो गया और अब यही 'उपनाम' मेरा साहित्यक नाम हो रहा है। अस्तु, मेरे अनुभव का सारांश यह है कि उपनाम रखकर हम अपनी दुर्बलता दूर कर सकें तो ऐसा करके भी लिखना चाहिए। पाठकों को अपने विचारों से वंचित करना ठीक नहीं। हम नहीं जानते हम किस क्षेत्र में सफल हो सकते हैं। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का अभिशाप हमारी प्रतिभा के विकास में बाधक है उसी तरह कभी-कभी साहित्य में भी 'अपना विषय' हमें अन्य विषयों पर 'प्रयोग' वा अपनी प्रतिभा की आजमाइश करने से रोकता है। इसलिए उपनाम रखकर हमें 'जाति-पाँति' का बखेड़ा हटाकर अपने भाग्य की परीक्षा करनी

चाहिए। उपनाम इस हेतु बड़ा उपयोगी है।

कुछ लोगों का नाम उनके व्यवसाय की दृष्टि से उपयुक्त नहीं होता। उन्हें भी उपनाम रखकर इस कमी को दूर करनी चाहिए। 'तखता राम' यदि करुणरस-पूर्ण कविता करेंगे तो लोग आर्द्र होने की जगह हँसने लगेंगे। इसलिए अपनी रचना के विषय के अनुरूप नाम रखना ठीक होता है। साहित्य में 'वस्तु' के अनुरूप उपनाम रखना चाहिए, जो सुगमता से स्मरण रखा जा सके, जिसमें उच्चारण की कठिनता न हो, जिसमें कुछ आकर्षण हो, जिसमें कुछ तात्पर्य हो। कवि लोग इसी हेतु सुन्दर-सुन्दर उपनाम रखते हैं।

लेखक अनेक विषयों पर लिखता है। उसे अनेक रूप में जनता के सामने आना होता है। एक नाम से यदि वह प्रत्येक प्रकार की रचना के रचायिता के रूप में पाठकों के सामने आता है तो पाठक उसके व्यक्तित्व की विभिन्नता पर कभी-कभी अज्ञात रूप से खिन्न हो उठते हैं और उसकी रचना को बे-मन से पढ़ते हैं। लेखक की सफलता संदिग्ध हो उठती है। ऐसी दशा में उचित है कि लेखक कई उपनाम रखे। रचना के विषय के अनुसार उपनाम होना चाहिए। मैं स्वयं 'अष्टावक्र' के नाम से हास्य, व्यंग, विनोद लिखता हूँ। 'श्रीभारतीय' नाम से कहानियाँ आदि। मैं अनेक ऐसे लेखकों को जानता हूँ जो ऐसा करते हैं।

उपनाम रखने का एक सब से भारी लाभ यह है कि पाठक 'रचना' को पढ़कर उसके विषय में अपनी स्वतन्त्र धारणा बनाते हैं। यदि अपनी रचना की स्वतंत्र निष्पक्ष आलोचना सुननी हो तो उपनाम से लिखकर मित्रों के सामने रखिए। मेरी रचनाओं के विषय में जब लोग मुझ से उसकी इस प्रकार प्रशंसा करते थे मानों किसी दूसरे की लिखी हो तो उस समय मुझे बहुत संतोष और आत्मविश्वास होता था। यदि उन्हें मालूम होता कि उपनाम-धारी लेखक मैं ही था तो कदाचित् वे मित्र इस प्रकार न कहते वा कह पाते।

देखा गया है कि कभी-कभी 'पुरुष' ने 'स्त्री' का उपनाम रखकर लिखा है और 'स्त्री' ने पुरुषोचित उपनाम रखकर। लोग इसे बुरा समझते हैं। कभी-कभी यह बुरा भी है। परन्तु यदि रचना को ध्यान में रखकर ऐसा करना पड़ा है तो वह बुरा नहीं। साहस-पूर्ण आख्यानों की लेखिका यदि पुरुषोचित 'उपनाम' रखती है तो बुरा नहीं। स्त्रियोपयोगी विषयों पर यदि लेखक—महिलाओं के योग्य उपनाम रखता है तो बुरा नहीं। व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है। परन्तु हिन्दी में संपादकों की आँख में धूल झोंकने के लिए यदि लेखक इसलिए लेखिका बनता है कि उसकी रचना छप जाय (क्योंकि संपादक महोदय लेखिकाओं पर विशेष कृपा रखते हैं) तो यह बुरा है। यह प्रश्न ही दूसरा है। ऐसे

संपादकों को प्रसन्न करना व्यर्थ है । उन्हें तो बहिष्कार का दण्ड देना चाहिए ।

उपनाम चुनते समय बड़ी सावधानी और दूरंदेशी से काम लेना चाहिए । 'उपनाम' ऐसा हो जिसे बाद में बदलना न पड़े । दूसरी बात यह कि उपनाम रखते समय देख लेना चाहिए कि किसी और लेखक ने तो यही उपनाम नहीं रखा है । हिन्दीवालों को तो इसका पता लगाना कठिन होगा क्योंकि यहाँ 'हिन्दी-जगत्' नामक पुस्तक नहीं है, पर अंग्रेज़ी में प्रत्येक Writers Year Book में उपनामों की सूची रहती है जिससे लोग जान सकते हैं कि किस लेखक का क्या उपनाम है । हिन्दी में यदि ऐसी सूची हो जाय तो कितना सुभीता हो जाय ।

## १४—रचनाओं का नामकरण

पुरानी कहावत है "यथा नाम तथा गुणः"—अर्थात् जैसा नाम होगा वैसा गुण होगा । इस कहावत की सत्यता में चाहे किसी को शंका हो, परन्तु जैसा गुण हो वैसा ही नाम रखना चाहिए इसमें दो मत कठिनता से हो सकते हैं । जीवन के अन्य क्षेत्रों में इस सिद्धान्त की उपेक्षा की जा सकती है पर लेखन-क्षेत्र में रचनाओं के गुण के अनुसार ही उनका नामकरण होना

चाहिए—यह सफलता के लिए एक आवश्यक मन्त्र है। हिन्दी लेखकों ने अभी इस 'नामकरण संस्कार' के महत्व को भलीभाँति नहीं समझा है। नामकरण संस्कार हमारे देश का एक प्राचीन संस्कार है—हम इसकी आवश्यकता से अपरिचित कहीं—यदि हैं तो उसकी आधुनिक उपयोगिता से।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली रचनाओं तथा आये दिन निकलनेवाली पुस्तकों के शीर्षकों पर यदि ध्यान दिया जाय तो इस बात का पता चलता है कि हमारे हिन्दी के शीर्षक आधुनिकता से बहुत पीछे हैं। हमारे पाठकों की रुचि में तो बहुत कुछ परिवर्तन हो गया, पर हमारे लेखकों की रुचि अभी समय से बहुत पीछे है! फल यह हो रहा है कि रचनाओं के शीर्षक उतने आकर्षक, व्यंजक और कुतूहल-वर्धक नहीं होते जितना कि उन्हें इस युग के पाठकों की मनोवैज्ञानिक अवस्था के अनुरूप होना चाहिए। लेखक की रचनाओं के विज्ञापक उनके शीर्षक ही होते हैं। पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के निमित्त शीर्षक का होना बहुत ही जरूरी है। बहुत ही कम पाठक इतने जिज्ञासु होंगे कि भद्दे शीर्षक को पढ़कर उस रचना को पढ़ने की लालसा रखें। इसके अतिरिक्त आकर्षक शीर्षक सम्पादकों को भी प्रभावित करते हैं। रद्दी शीर्षक वाली रचनाओं को सम्पादक देखते ही अस्वीकृत कर देता है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल

अच्छे आकर्षक शीर्षक के ही भरोसे रचना स्वीकृत हो सकती है। नहीं, पर भद्दे शीर्षकवाली रचना की ओर सम्पादक का कम ध्यान जायगा—और छपने पर पाठकों का भी। कहने का सारांश यह है कि लेखकों को शीर्षक का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिए। अपनी रचनाओं के नामकरण संस्कार को उन्हें एक महत्वपूर्ण कार्य्य समझना चाहिए।

शीर्षक कितने प्रकार के हो सकते हैं यह बतलाना कठिन है, पर साधारण रीति से उनके निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं। जैसे—

( १ ) वस्तु-वाचक शीर्षक।
( २ ) प्रश्नात्मक शीर्षक।
( ३ ) आदेश-सूचक शीर्षक।
( ४ ) अनुप्रास-प्रधान शीर्षक।
( ५ ) अति-सूचक शीर्षक।
( ६ ) विस्मयात्मक शीर्षक।
( ७ ) विज्ञापक शीर्षक।
( ८ ) सूक्ति-प्रधान शीर्षक।
( ९ ) एक-शब्द शीर्षक।

**१—वस्तु-वाचक शीर्षक**—इस प्रकार के शीर्षक का उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में रचना की वस्तु का ज्ञान कराना होता है। जैसे 'रामायण की कथा' कालिदास की निरंकु-

शता', 'चम बनाने के सिद्धान्त', 'हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट।'

२—प्रश्नात्मक शीर्षक—इस प्रकार के शीर्षकों का उद्देश्य पाठकों को सम्बोधन करके उनका ध्यान आकृष्ट कराना होता है। जैसे—'क्या आप सौ वर्ष जीना चाहते हैं ?', 'हम किस पर लिखें ?', कहानी किस पर हो ?' 'फिर निराशा क्यों ?'—आदि

३—आदेश-सूचक—इस प्रकार के शीर्षक का प्रभाव तुरन्त पाठकों पर पड़ता है। पाठक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो उठती है। उसके मस्तिष्क में 'क्यों ?' घूम जाता है और वह रचना को आद्योपान्त पढ़ने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार के शीर्षक हिन्दी में कम देख पड़ते हैं। उनका रूप इस प्रकार होगा। जैसे—'फल अधिक सेवन कीजिए !', 'साधुओं से सावधान !', 'घर बैठे पैसा कमाइए !' इस प्रकार के शीर्षक वैज्ञानिक लेखों के लिए विशेष रूप से उपयोगी होते हैं।

४—अनुप्रास-प्रधान—अनुप्रास मे नैसर्गिक आकर्षण होता है। ऐसे शीर्षक पाठकों की जबान पर चढ़ जाते हैं। ये पढ़ने में अच्छे लगते हैं। परन्तु इस प्रकार के शीर्षक चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'अनुप्रास' का प्रलोभन कहीं शीर्षक को अनुपयुक्त न बना दे। शीर्षक का मुख्य लक्ष्य रचना की 'वस्तु' की सूचना देना होता है। इसकी सिद्धि करते हुए यदि

शीर्षक सानुप्रास भी हो तो फिर क्या कहना—सोना और सुगन्ध !

अनुप्रास-प्रधान शीर्षक, कहानी, आलोचना, निबन्ध, हास्यरस-प्रधान रचना, कविता आदि के लिए बहुत उपयुक्त होता है। यों तो यह सभी प्रकार की रचनाओं के लिए काम आ सकता है क्योंकि ऐसे शीर्षक आसानी से स्मरण रखे जा सकते हैं। ऐसे शीर्षकों के कुछ रूप इस प्रकार होंगे। जैसे—प्रेम-प्रपञ्च, रचना-रत्नाकर, पद्य-पयोनिधि, मालती माधव, गोबर-गणेस संहिता, विवाह-विज्ञापन, तीन-तिलंगे, सैलानी की सैर, प्रिय-प्रवास आदि।

**२—अति-सूचक शीर्षक**—'अति' में स्वतः आकर्षण होता है। 'भारी भ्रम'—में 'भारी' विशेषण तुरन्त हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और उसके रहस्य को जानने के लिए हमें उत्सुक कर देता है। इसी प्रकार अतिसूचक विशेषण और भी आकर्षण रखता है। सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट, निकृष्ट, निम्नतम आदि विशेषण जब किसी शीर्षक के आरम्भ में होते हैं तब पाठकों का मन तुरन्त उन रचनाओं के भीतर छिपी बातों को जानने के लिए जिज्ञासु हो उठता है। ऐसे शीर्षक अधिकतर समाचारों के बड़े काम के होते हैं। रिपोर्टरों के लिए ये विशेष रूप से उपयोगी होते हैं। जैसे—ससार का सब से बड़ा पहलवान, महान भिक्षुक, नामी डाकू, प्रसिद्ध उड़ाका, एकमात्र

उपाय, सब से ऊँची इमारत, संसार का सब से बड़ा नेता, आदि... ।

६—विस्मयात्मक शीर्षक— विस्मयात्मक शीर्षक की उपयोगिता भी इसी में है कि वह पाठकों को आश्चर्य में डालकर उनकी जिज्ञासा जागृत करे। जैसे—साइकिल पर पृथ्वी-परिक्रमा ! बिना पहिये की गाड़ी !, बिना शस्त्रों का शिकारी ! ऐसे शीर्षक रखते समय इस पर ध्यान रखना चाहिये कि समस्त शीर्षक की शब्दावली में 'विरोधाभास' का पुट हो। जैसे—ईमानदार चोर !, सफेद खून !, सती वेश्या !, शरीफ़ बदमाश ! आदि।

७—विज्ञापक शीर्षक—ये भी वस्तु-वाचक शीर्षक की ही श्रेणी में आते हैं, पर इनमें अन्तर केवल इतना होता है कि इनमें 'फल पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। जैसे—सोयाबीन से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। वस्तुवाचक शीर्षक होगा—'सोयाबीन के गुण'। परन्तु इसमें 'स्वास्थ्य अच्छा रहता है'—रखने से वह अधिक विज्ञापक हो गया है। विज्ञापक शीर्षकों का उद्देश्य ही है विज्ञापन करना। पाठक जितना ही शीघ्र रचना के महत्त्व को समझेगा उतना ही 'विज्ञापक' श्रेणी का शीर्षक सफल माना जायगा। शीर्षक रखते समय पाठकों को कौन-सी बात 'तुरन्त' रुचेगी इस पर ध्यान रखना चाहिए। ऐसी दशा में लेखक को अपने पाठकों की रुचि और योग्यता तथा आवश्यकता का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए, अन्यथा वह

यह न समझ सकेगा कि कौन-सी बात उसके पाठकों को उसकी रचना पढ़ने की ओर आकृष्ट करेगी।

८—**सूक्ति-प्रधान शीर्षक**—सूक्तियाँ, कहावतें और चलते हुए वाक्य आदि से जनता परिचित रहती है। उनके अर्थ और तात्पर्य से वह भली भाँति अवगत होती है। इसलिए यदि सूक्तियाँ, कहावतें और चलते हुए वाक्य वा 'चरण' कभी शीर्षक के स्थान पर देख पड़ते हैं तो वे पाठकों को, परिचित होने के कारण, विशेष-रूप से घरेलू मालूम होते हैं और पाठक ऐसी रचनाओं की वस्तु के बारे में तुरन्त अपने मन में धारणा बना लेता है और वह अपनी धारणा की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उत्सुक हो उठता है। फिर वह उसे अवश्य पढ़ता है। इस प्रकार के शीर्षक हिन्दी में देख पड़ने लगे हैं, परन्तु उनका प्रयोग अधिकतर आँखें मूँद कर हो रहा है। मुझे स्मरण है कि पहले-पहल किसी कहानी-लेखक ने अपनी कहानी का शीर्षक रखा था "दुखवा मैं कासे कहौं मोर सजनी !", बस अन्य लेखक उसकी नकल करने लगे। फिर तो बहुत-सी कहानियाँ, कविताएँ ऐसी देखने को मिलीं कि जिनका शीर्षक सूक्ति-प्रधान होते हुए भी—बहुत ही बेतुका और रचना के लिए बिल्कुल ही अनुपयुक्त था। हिन्दी-लेखकों में नकल करने का दोष अधिक है, स्वयं सोच-समझकर काम करने की ओर उनका ध्यान कम जाता है। शीर्षक—रचना और लेखक के निजी दृष्टिकोण का परिचायक है।

शीर्षक ही लेखक के लक्ष्य का बोधक है। ऐसी दशा में दूसरों के शीर्षक की नकल लेखक के समस्त परिश्रम पर पानी फेर देता है। सोचने की बात है—एक लेखक अपनी योग्यता के अनुरूप, अपने पाठकों के योग्य, अपने परिश्रम से एक वस्तु तैयार करता है और वह उस वस्तु का परिचय दूसरे के शीर्षक से कराता है! दूसरे लेखक का शीर्षक उस लेखक के दृष्टिकोण को कैसे व्यक्त कर सकेगा? अपनी रचनाओं का शीर्षक स्वयं चुनकर रखना चाहिए और अपने ढङ्ग से।

९—**एकशब्द शीर्षक**—सब से छोटा शीर्षक एक शब्द का होता है। एक शब्द का शीर्षक रखते समय इस पर ध्यान रखना चाहिए कि वही शब्द उस संपूर्ण रचना की कुञ्जी हो, उसी पर सारे विचार केन्द्रीभूत हों। जैसे एलबम, मुनमुन, कफ़न, ग़बन, कंकाल, परख, सन्यासी आदि।

ऊपर के विभाग न तो शीर्षकों के एकमात्र विभाग हैं और न शीर्षकों का विभाजन हो ही सकता है। लेखकों की रुचि के अनुसार सैकड़ों प्रकार के शीर्षक हो सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से हमें केवल इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि शीर्षक रचना के प्रति पाठकों को आकृष्ट करे, और वह रचना की 'वस्तु' का परिचय दे।

# १५—सफल पत्रकार

अभी थोड़े ही दिनों से हिन्दी में 'पत्रकार' शब्द का व्यवहार देखने में आ रहा है। पत्रकार और पत्रकार-कला—इन दो शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी-लेखकों किंवा प्रकाशकों ने इन दो शब्दों के महत्व को हृदयंगम नहीं किया, अन्यथा हमारे सामयिक-साहित्य की यह हीन अवस्था न होती। किसी ने कहा है, "Newspaper is the dial of humanity's clock"—अर्थात् समाचारपत्र मानव समाज की घड़ी है। अपनी भाषा के पत्रों को देखते हुए कोई भी इस भुलावे में नहीं रह सकता कि हमारे लेखक, पाठक तथा प्रकाशक यथेष्ट उन्नति कर चुके हैं। इसका उत्तरदायित्व किसी एक पर नहीं, वरन् हम सब पर है। लेखक के नाते हमें केवल अपने निजी उत्तरदायित्व पर सर्वप्रथम विचार करना चाहिए।

पत्रकार-व्यवसाय की परिभाषा करते हुए लार्ड मोर्ले कहते हैं, "Journalism is literature in a hurry.' —अर्थात् चलता हुआ साहित्य उत्पन्न करना ही पत्रकार का व्यवसाय है। पत्रकार स्थायी साहित्य की सृष्टि करने

के लिए नहीं है। वह सामयिक रुचि के अनुसार ऐसी वस्तु की सृष्टि करता है जिससे पाठकों का मनोरंजन हो सके, उन्हें लाभ पहुँचे। पत्रकार 'पत्रों' के लिए लिखता है। पत्रों का महत्व बतलाते हुए मिस्टर बी० कान्सटैन्ट कहते हैं—

"The press is mistress of intelligence, and intelligence is mistress of the world"

स्पष्ट है कि आधुनिक युग में ज्ञान-प्रचार के लिए 'पत्र' से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं। आधुनिक सभ्यता की गति की तीव्रता को देखते हुए कुछ लोग यह कहने पर तैयार हैं कि 'भविष्य का साहित्य समाचारपत्र ही होगा।' यदि हम विचारपूर्वक देखें तो उपर्युक्त भविष्यद्-वाणी में बहुत कुछ 'सत्य' की मात्रा है। स्थायी साहित्य का आधार क्या है? उसका 'स्थायित्व' मानव जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस युग की गति को देखते हुए, आये दिन नवीन आविष्कारों के होते हुए, कौन मानने को तैयार है कि आधुनिक युग का मनुष्य अपने आचारों, विचारों तथा विश्वासों आदि को लेकर बैठा रहेगा। उसे जब नित्य नई परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है, अपने बाहुबल से जब वह दिनों-दिन प्रकृति पर विजय पाता जा रहा है, जब उसकी उन्नति के मार्ग-रोधक—समय, दूरी, भौगोलिक परिस्थितियाँ आदि उसके लिए नगण्य सी होती जा रही हैं, तब ऐसी दशा में क्या

मनुष्य के विचारों और विचारपद्धति में महान् परिवर्तन हुए बिना रह सकता है ? कौन कह सकता है कि आज से पच्चीस या पचास वर्ष बाद का मनुष्य आज का सा ही मनुष्य रहेगा ? पाश्चत्य देशों में जैसी क्रान्तिकारी उन्नति हो रही है उसे देखते हुए कौन न मानेगा कि मनुष्य की सभ्यता तथा उसके आचार-विचार में अब इतनी तेज़ी से परिवर्तन होता जा रहा है कि समाज या सभ्यता के 'स्थायित्व' की कल्पना एक उपहास्य वस्तु समझी जायगी। यह अच्छा है या बुरा यह प्रश्न ही दूसरा है। और यह हमारे लिये व्यर्थ भी है। हमें तो केवल इस तथ्य को स्वीकार करना है कि बहुत ही शीघ्र 'साहित्य में 'स्थायित्व' कोई वस्तु नहीं रह जायगी और मानव समाज का कल्याण केवल वर्तमान या सामयिक साहित्य पर निर्भर होगा। ऐसे साहित्य का निर्माण 'पत्रकारों' के द्वारा होगा। क्या ऐसे महत्वपूर्ण कार्य के सम्पादकों का उत्तरदायित्व साधारण होगा ?

मिस्टर ग्लीसन लिखते हैं, "Possibly no profession in the world is so difficult of entry as journalism"—अर्थात् पत्रकार-व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश पाना जितना कठिन है उतना अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। ऐसा क्यों ? कारण स्पष्ट है कि विदेश के उन्नतिशील देशों में पत्रकार का व्यवसाय एक महत्वपूर्ण व्यवसाय समझा जाता है, जिसमें केवल परिश्रमशील उत्तरदायित्व

समझनेवाले लोग ही प्रवेश पाते हैं। जहाँ के पत्रकारों पर देश की बड़ी-से-बड़ी समस्याओं को सुलझाने का भार रहता है, यदि वहाँ 'पत्रकार' एक उत्तरदायित्वपूर्ण पद की उपाधि समझी जाय तो इसे आश्चर्य न समझिए। ज़रा क्षण भर के लिए अपने हिन्दी-जगत् के पत्रकारों का ध्यान कर लीजिए। कितना जमीन आसमान का अन्तर है। हमने पत्रकार-कला के दर्शन तक नहीं पाये, पत्रकार-व्यवसाय का महत्व ही नहीं समझा। केवल पाश्चात्य देशों के पत्रकार-व्यवसाय के कुछ ओछे हथकण्डे और कलाबाज़ियों की झलक पाकर उसके आचार्य बन बैठे हैं। हमने इस 'अल्प-ज्ञान' का प्रयोग कर हिन्दी पत्र-जगत् को कितना गन्दा बना दिया, कितना घातक बना दिया! इसीसे किसी ने कहा था—'A little knowledge is a dangerous thing.'—नीम हकीम ख़तरे जान!

यदि हमें अपने देश, भाषा और पत्र-व्यवसाय का कल्याण करना है तो हमें पत्रकार-कला की आत्मा को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। हमें केवल 'पत्रकार' उपाधि लिखकर अपने को सफल न समझना चाहिए वरन 'सफल पत्रकार' कहलाने के योग्य बनने के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए। 'सफल पत्रकार' के लिए प्रथम यह आवश्यक है कि वह अपने व्यवसाय में तैयार होकर प्रवेश पाने की इच्छा रखे—यह नहीं कि जब कहीं भी ठिकाना न मिला अथवा जब और किसी काम के न निकले, तो चले

पत्रकार बनने। मानों सब से आसान काम यही हो। यदि पत्रकार बनने की इच्छा हो तो उसके लिए तन, मन, धन से डट जाइये और 'सफल पत्रकार' कहलाकर ( बनकर नहीं ) ही दम लीजिए।

पत्रकार दूसरों के लिए लिखता है। अतः 'स्वान्तः सुखाय' श्रेणी के लेखकों के लिए पत्रकार-जगत् में स्थान नहीं। यदि आप अपनी रचनाएँ केवल अपने उद्गारों को लिपिबद्ध करने के लिए करते हैं और उन्हें छपाकर केवल उन्हें टाइप में देखकर अपनी आँखें ठण्डी करना चाहते हैं तो आप चाहे सब कुछ बन जायँ पर 'पत्रकार' नहीं बन सकेंगे। मिस्टर ग्लीसन को एक 'पत्रकार' ने इसीलिए उपदेश दिया था—

'Do'nt write to please yourself. Often, when you write what you consider to be an extremely original article, you write it because the subject interests you personally. You do not bother your head about whether the subject is of interest to any particular editor or to the readers of some definite papers. In these cases you are not working at your journalism, you are merely amusing yourself by spinning words to gether.''

पत्रकार-व्यवसाय मज़ाक नहीं है कि जो जी में आया लखा और उसे छपाने दौड़े। हमारे हिन्दी-जगत् में इसी

कारण पत्रकारों और लेखकों की कृतियों का मूल्य नहीं आँका जा रहा है। पुरस्कार चाहे मिल जाय परन्तु पारिश्रमिक रूप से उनके पूरे परिश्रम का मूल्य नहीं मिलता। ऐसा तभी हो सकेगा जब हम 'स्वान्तः सुखाय' न लिखकर 'जन-हिताय' लिखा करेंगे। परन्तु इसके साथ-ही-साथ जब हमारे सामयिक साहित्य के कर्णधार—सम्पादक लोग भी इस बात को समझेंगे कि पत्र-पत्रिकाएँ पाठकों के लिए निकलती हैं और इसलिए उन्हें पाठकों की रुचि और आवश्यकता का पूरा ज्ञान रखना आवश्यक है। यदि ऐसा होगा तो निश्चय ही पत्रों का प्रचार होगा, बिक्री होगी और लेखक, सम्पादक तथा प्रकाशक सभी अपनी जीविका कमा सकेंगे।

पत्रकार-जगत् में प्रवेश करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को पहले अपनी भाषा और उसमें लिखने का पूरा अभ्यास कर लेना चाहिए। उसका व्यापक ज्ञान भी यथेष्ट होना चाहिए। यदि वह अपने विचारों को सुचारु रूप से प्रकट करना जानता है तो वह पाठकों का मनोरंजन कर सकेगा, यह निश्चय है। और पत्रकार के लिए कम-से-कम इतना होना परमावश्यक है।

सफल पत्रकार को पत्र-जगत् का पूरा ज्ञान रखना चाहिए। उसे यह जानना चाहिए कि उसके क्षेत्र में कितने पत्र निकल रहे हैं, उनकी नीति क्या है, वे किस विषय के लेख चाहते हैं, उनके पाठकों की रुचि क्या है।

पत्रकार के लिए दो व्यक्ति बड़े महत्वपूर्ण हैं—सम्पादक और पाठक। संपादक भी उतना नहीं जितना कि पाठक और जनता। किसी पत्र का सम्पादक अपने पाठकों के मनोरंजनार्थ लेख की खोज में रहता है और उसकी इच्छानुसार 'लेख' लिखकर संपादक को प्रसन्न करके पत्र-कार' रुपये कमा सकता है। परन्तु यदि पत्रकार पाठकों की रुचि का अध्ययन करता रहेगा तो वह सपादक से पहले ही उसके पत्र के पाठकों की आवश्यकता का अनु मान कर सकेगा और तब उसकी 'चीज' निश्चय संपादक खरीद लेगा (हम हिन्दी-सम्पादकों की बात नहीं करते)। अतः पत्रकार की सफलता की कुञ्जी पाठकों के हाथ में है। और पाठकों की रुचि स्थायी नहीं होती। यदि आज व एक चीज पसन्द करते हैं तो कल दूसरी। इसीलिए मिस्टर ग्लीसन कहते हैं—"The newspaper reading public is fickle. What it likes today, tomorrow it loathes. A journalist has constantly to be learning new tricks if he is to please."—अर्थात् "पत्र पढ़नेवाली जनता के रुचि का ठिकाना नहीं। आज वह जिसे पसन्द करती है कल उसे देखना भी नहीं चाहती। यदि पत्रकार उसे प्रसन्न रखना चाहता है तो उसे नित्य प्रसन्न रखने की नयी-नयी तरकीबें सोचते रहना चाहिए।"

स्पष्ट है कि लेखन-शैली में दिनों-दिन नवीनता लाना,

नयी-नयी बातों पर लिखना, नये-नये तरीकों से किसी बात को कहना, आदि ही वे तरकीबें हो सकती हैं। जिस तरह एक वक्ता अपने श्रोताओं को मुग्ध करके उन्हें अपना संदेश सुना सकता है, उसी तरह पत्रकार यदि पाठकों से कुछ कहना चाहता है तो उन्हें प्रसन्न रखकर, उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करके ही ऐसा कर सकता है। नीरस, चमत्कारहीन शैली में लिखा हुआ अच्छे-से-अच्छा विषय भी पाठक पढ़ना पसन्द नहीं करते। यदि आप चाहते हैं कि आपकी चीज कोई पढ़े तो आप को इस पर ध्यान रखना होगा कि वह क्या पढ़ना चाहता है और किस तरह की चीज़ पढ़ सकता है। पाठकों की योग्यता, उनकी अनुभूति, रुचि आदि का पूरा ज्ञान यदि पत्रकार को न होगा तो वह कभी भी अपनी रचना सर्वप्रिय नहीं बना सकेगा; और पत्रकार की सफलता उसके सर्वप्रिय होने ही पर अधिक निर्भर है।

जनता या पाठकों के समुदाय में नाना रुचि के लोग होते हैं। सबको प्रसन्न करना इतना आसान काम नहीं। यह असम्भव भी नहीं है, अन्यथा फिर 'पत्र' और 'पत्रकार' दोनों का अस्तित्व न होता। जनता की रुचि का अध्ययन करने के लिए पत्रकार को 'सर्वाङ्गपूर्ण' होना पड़ेगा। लो वारेन ( Low Warren ) लिखते हैं—In a word the successful journalist must know something of every thing and everything of something.

Put more plainly, his duties require that he should have a well stored mine of general knowledge and a thorough knowledge of some particular subject—परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि सारा ज्ञान उपार्जन करके ही पत्रकार बनना सम्भव है। एक सफल पत्रकार ने कहा था, "मैं सब कुछ जानता हूँ यह कहना ही व्यर्थ हैं। परंतु मैं यह जानता हूँ कि जिसे मैं नहीं जानता वह कहाँ ढूँढ़ने से मिलेगा।" अब यह प्रकट हो जाता है कि 'सफल पत्रकार' की जानकारी कम-से-कम इतनी अवश्य होनी चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर किसी विशेष 'विषय' का ज्ञान प्राप्त कर सके। अनुसंधान-वृत्ति, जिज्ञासा और परिश्रम से मनुष्य बहुत कुछ जान सकता है।

पत्रकार की शिक्षा के विषय में पाश्चात्य पत्रकार-कला के विशेषज्ञों का मत है कि आधुनिक शिक्षालयों की शिक्षा इसके लिए बिलकुल व्यर्थ हैं। उन के मत से अधिक-से-अधिक स्कूल की शिक्षा, हाई स्कूल या मैट्रिक, इसके लिए काफ़ी है। उनका कहना है कि स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् एक नवयुवक इन योग्य हो जाता है कि वह 'पत्रकार-व्यवसाय' सीख सके। कॉलेज की शिक्षा समाप्त करने पर नवयुवक का मस्तिष्क इतना परिपक्व हो जाता है कि वह 'व्यवसाय' की बात सीख ही नहीं सकता। मिस्टर लो वारेन कहते हैं—Experience proves that the successful journalist must be

caught young. It is difficult to train a man who looks at every thing from the academic standpoint and who knows not what discipline means.

'In the majority of cases, therefore it would seem that the University Education is not only not an advantage, more often than not, it is a positive drawback.'

पत्रकार-कला की शिक्षा देने के लिए पाश्चात्य देशों में बहुत से स्कूल और कॉलेज खुले हैं, परन्तु इनके केवल सिद्धान्तिक ( Theoretical ) ज्ञान प्राप्त होता है। सफल पत्रकार के लिए अपने व्यवसाय का व्यावहारिक ज्ञान रखना ज़रूरी है। इस दृष्टि से मिस्टर वारेन का मत है कि सफल पत्रकार का स्कूल पत्र का दफ़्र ही है। पत्रकार-व्यवसाय एक स्वतन्त्र व्यवसाय है, इसकी अपनी दुनिया होती है, जहाँ छोटे बड़े सभी प्रकार की बुद्धि और योग्यतावालों के लिए स्थान है। सभी आवश्यक हैं और सभी अपनी रोटी कमा सकते हैं। परन्तु पत्रकार-जगत् में सफलता उसी को प्राप्त होती है, जो परिश्रम कर सकता है, बुद्धि रखता है, सोचता है, समझता है और समय तथा परिस्थिति के अनुसार विवेक से काम लेता रहता है।

सफल पत्रकार के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जानकारी विस्तृत हो, उसमें तुरन्त लिखने की क्षमता हो

और जो कुछ वह लिखे उसे लोग पढ़ें और विश्वास करें। इस हेतु उसे बराबर पढ़ते रहना होगा, सोचते रहना होगा और लिखने का अभ्यास करते रहना होगा। इसके साथ यदि वह अपने चरित्र का विकास करता रहेगा, दृढ़ता, न्याय और सत्य-प्रियता पर दृढ़ रहेगा, अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व के प्रति सावधान रहेगा तो निश्चय वह जनता का विश्वासपात्र होगा। आधुनिक युग में पत्रकार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ी हुई है। जनता उसके हाथों का खिलौना बन सकती है। यदि वह चाहे तो अपने देश और जाति का बहुत कुछ कल्याण कर सकता है। पत्रकार की सफलता उसके देश के हितों की हानि से नहीं होगी, यह निश्चय है। सफल पत्रकार इसे कभी नहीं भूलता।

## १६—कापीराइट कानून

कापीराइट क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह जानना चाहिए कि समाज में सम्पत्ति की कल्पना का आधार क्या है। प्रत्येक सभ्य समाज वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा का विधान करता है। वास्तव में सम्पत्ति मनुष्य के 'परिश्रम' का स्थूल रूप है। मनुष्य अपने परिश्रम का फल सम्पत्ति के रूप में पाता है और

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्राणी, चाहे वह मनुष्य हो, चाहे पशु, अपने परिश्रम के फल का उपभोग करना अपना अधिकार समझता है। सभ्य समाज का प्रथम लक्षण यही है कि वह व्यक्तियों के परिश्रम का फल उनसे छिन जाने से बचावे। सिद्धान्ततः यही सम्पत्ति और उसकी रक्षा का मूल आधार है।

सम्पत्ति का कोई एक रूप नहीं हो सकता—समाज की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार सम्पत्ति का आकार-प्रकार बदलता आया है। जिस समाज को जिस वस्तु की अधिक आवश्यकता थी, जहाँ जो वस्तु प्राप्त थी—वही उस समय में उस स्थान में सम्पत्ति समझी गयी। सम्पत्ति का मूल्य परिश्रम और उपयोगिता की दृष्टि से आँका जाता था और उसकी रक्षा का मूल सिद्धान्त यही रहा कि एक व्यक्ति अनधिकार दूसरे के परिश्रम के फल का उपभोग न कर सके।

ज्यों-ज्यों समाज का विकास होता जाता है अनेक प्रकार की सम्पतियों का प्रादुर्भाव होता जा रहा है और सभ्य समाज अपनी व्यवस्था को अचल बनाये रखने के लिए उनकी रक्षा का विधान करता जा रहा है। बिजली अब सम्पति मानी जाती है क्योंकि उसे उत्पन्न करने के हेतु 'परिश्रम' का व्यय होता है जिसका मूल्य है और जिसे अनधिकार लेना चोरी समझा जाता है। हम नहीं कह सकते कि भविष्य में कब. कैसे-कैसे आविष्कार हों और

कौन-कौन सी वस्तुएँ सम्पति की श्रेणी में आवें। परन्तु सब के भीतर मूल सिद्धान्त एक ही होगा—यही कि वे 'परिश्रम' का फल होंगी और इसी कारण उनकी रक्षा समाज करेगा।

एक समय था जब रचयिता वा लेखक की वस्तु, उसकी सम्पति होते हुए भी, समाज द्वारा रक्षित नहीं की गयी थी। प्राचीन समय में कवि लोग अपनी रचनाओं में इसी हेतु 'उपनाम' ऐसा जड़ देते थे कि उन्हें कोई चुरा न सके। तब छापेखाने न थे और पुस्तकों की बिक्री का व्यापार न था। इसी कारण रचयिता वा लेखक की रचना की रक्षा की समस्या इतनी आवश्यक न समझी गई थी। नवीन युग के आते ही पुस्तकों का छपना और बेचना एक व्यापार बन बैठा और ऐसी अवस्था में लेखक वा रचयिता की सम्पत्ति का अपहरण कर लोग उसे काफ़ी हानि पहुँचा सकते हैं। इसी हेतु 'कापीराइट' कानून की कल्पना का जन्म हुआ।

'कापी-राइट' का साधारण अर्थ है—रचयिता का अपनी रचना पर पूर्ण अधिकार। इस अधिकार की स्थापना उसकी रचना की 'सृष्टि' के उपरान्त होती है। यदि रचयिता ने अपने विचार वा कल्पना को मूर्त आकार नहीं दिया तो उसकी सृष्टि नहीं हुई। इसी कारण केवल विचारों पर 'कापीराइट' नहीं माना जाता। 'कापीराइट'

का अधिकार तभी स्थापित होता है, जब रचयिता अपने विचारों को स्थूल रूप देता है।

रचयिता शब्द का प्रयोग हम इसलिये करते हैं कि केवल लेखक वा ग्रन्थकार ही नहीं, वरन् स्वरकार, चित्रकार, शिल्पी आदि—ऐसे सभी लोग जो अपनी कल्पना, भाव, वा विचारों को मूर्त रूप देते हैं—अपने परिश्रम के फल का पूर्ण उपभोग करने के अधिकारी हैं। अतः सभी 'कापीराइट' के पात्र हैं। परन्तु उनका अधिकार तभी स्थापित होता है, जब उनके भाव मूर्त रूप में परिणत हो जायँ।

रचयिता की रचना पर उसके पूर्ण अधिकार को 'कापीराइट' कहते हैं। यह अधिकार उसकी सम्पत्ति समझी जाती है और 'कापीराइट कानून' उसकी रक्षा करता है। कापीराइट वा रचयिता की सम्पत्ति की स्थापना कापीराइट कानून के अनुसार होती है, अतः जो क़ानून के अनुशासन के बाहर है, वह रचयिता की सम्पत्ति नहीं मानी जायगी। भिन्न-भिन्न देशों में अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार कापीराइट कानून का प्रचलन है। हमें भारतीय कापीराइट कानून का ज्ञान रखना आवश्यक है क्योंकि अधिकतर इसी से हमें काम पड़ेगा। भारतीय कापीराइट कानून का, जो इस समय प्रचलित है, सन् १९१४ ई० में निर्माण हुआ। उसके अनुसार कापीराइट अधिकार की सीमा इस प्रकार निर्धारित हुई है।

"इस विधान के सम्बन्ध में 'कापीराइट' का अर्थ है—अपनी रचना को प्रकाशित करने, संस्करण निकालने, उसको सम्पूर्ण वा उसके किसी अंश को तद्रूप वा किसी प्रतिरूप में करने, और अभिनय करने; यदि भाषण है तो उसे देने, उसे अंशतः वा सम्पूर्णतः प्रकाशित करने; यदि रचना अप्रकाशित है तो उसे पूर्णतः वा अंशतः प्रकाशित करने तथा निम्नलिखित का पूर्ण अधिकार तथा उसकी आज्ञा देने का अधिकार :—

"( क ) रचना का अनुवाद करना, अभिनय करना वा प्रकाशित करना।

( ख ) रूपक है तो उसका उपन्यास बनाना अथवा उसे अन्य रूप देना।

( ग ) यदि उपन्यास है तो उसे 'रूपक' बनाना अथवा उसका अन्य उपयोग।

( घ ) साहित्यिक, रङ्ग-मंच सम्बन्धी रचना का, यदि सङ्गीत हो तो उसका रेकार्ड बनाना, फ़िल्म आदि बनाना, जिसमें यन्त्रों द्वारा उसका प्रदर्शन हो सके।"

ऊपर गिनायी हुई बातों से प्रकट है कि कापीराइट का मुख्य उद्देश्य रचयिता के परिश्रम के फल की रक्षा मात्र है। यही उसका स्वत्व है और यही उसकी सम्पति है। हम ऊपर कह चुके हैं कि कापीराइट क़ानून के अनुसार ही रचयिता की सम्पति की स्थापना होती है और प्रत्येक

देश का अपना अपना क़ानून है। भारतीय कापीराइट क़ानून के अनुसार केवल वही लोग इसके अनुसार रक्षा पा सकते हैं—( १ ) जिनकी रचना का प्रथम प्रकाशन अँग्रेज़ी राज्य में हुआ हो। ( २ ) जिसने रचना अँग्रेज़ी राज्य में रहकर तैयार की हो।

स्पष्ट है कि भारतीय कापीराइट क़ानून द्वारा रक्षा पाने के हेतु रचना का सर्व प्रथम अंग्रेज़ी भारत में प्रकाशित होना अथवा रचयिता का अपनी रचना अंग्रेज़ी भारत में रहकर तैयार करना आवश्यक है।

कापीराइट वैयक्तिक सम्पत्ति है, जिस प्रकार अन्य चल और अचल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी समाज में प्रचलित रिवाज के अनुसार होता है, उसी प्रकार 'कापीराइट' का भी होता है। यदि लेखक अपनी रचनाओं के विषय में कुछ न लिख जाय, तो उन रचनाओं का कापीराइट उसके उत्तराधिकारी की सम्पत्ति स्वतः मानी जायगी। कापीराइट कानून के अनुसार जब तक 'कापीराइट' का अधिकारी अपनी सम्पत्ति पर किसी को लिखकर अधिकार न दे दे, तब तक उसकी सम्पत्ति पर किसी का अधिकार नहीं माना जायगा।

**कापीराइट का अनुशासन**—रचयिता द्वारा अपने परिश्रम के फल—अपनी रचना—को पूर्ण रूप से उपयोग करने तथा उस सम्पत्ति का उपभोग करने के पूर्ण अधिकार को कापीराइट कहते हैं। यह अधिकार तथा इस नवीन

सम्पत्ति की संस्थापना कापीराइट कानून के अनुसार वैध मानी गयी है।

कापीराइट वास्तव में रचयिता के परिश्रम के परिणाम का अपहरण से रक्षा करता है। यह परिश्रम उसका निजी परिश्रम होना चाहिए। रचयिता का परिश्रम उसका 'मानसिक परिश्रम' होता है, जिसकी सहायता से वह किसी 'मौलिक' रचना को जन्म देता है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि रचयिता का अधिकार वा कापीराइट तभी स्थापित होता है, जब उसके मानसिक परिश्रम का परिणाम मूर्त रूप धारण करे। इसी हेतु केवल विचारों, भावों और सूझ पर 'कापीराइट' नहीं माना जाता। 'कापीराइट' स्थापित होने के लिए वे विचार साकार होने चाहिए। यदि लेखक है तो उसकी रचना लिपिबद्ध होनी चाहिए। यदि चित्रकार है तो उसकी कल्पना अङ्कित होनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य रचयिता भी जब तक अपने भावों को मूर्त रूप नहीं देते, उनका 'कापीराइट' स्थापित नहीं होता।

कानून के अनुसार प्रत्येक मौलिक, साहित्य, सङ्गीत सम्बन्धी, रङ्गमञ्च सम्बन्धी तथा कलात्मक रचना में रचयिता का कापीराइट स्थापित होता है। इन वर्गों की परिधि का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

'मौलिक'—यदि रचना मौलिक है तो वह कापीराइट क़ानून द्वारा रक्षा पा सकती है। यहाँ 'मौलिकता' से तात्पर्य भावों के अनूठे होने वा उनकी प्रदर्शन-शैली के अछूते होने

से नहीं है। यदि वे 'भाव' रचयिता की भाषा में प्रकट किये गये हैं तो वे कापीराइट कानून के अनुसार 'मौलिक' समझे जायँगे। जिसकी भाषा में विचार प्रकट हुए हैं, वही उसका रचयिता माना जायगा, क्योंकि 'भावों' को मूर्त रूप उसी ने दिया और वही उसका मौलिक रचयिता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि भावों पर कापीराइट तब तक नहीं माना जाता जब तक वे लिपिबद्ध नहीं होते। कापीराइट कानून के अनुसार 'मौलिकता' रचयिता की लेखन-शैली और शब्द-विन्यास में होती है। जो केवल दूसरों के शब्दों को लिखता है, वह मौलिक न माना जायगा और न वह रचयिता वा लेखक ही होगा।

'मौलिकता'—रचयिता के निजी परिश्रम का फल होती है। इसी हेतु उसकी रक्षा उसकी वैध सपत्ति मानी गयी है। इसी स्वतन्त्र परिश्रम की रक्षा करने के हेतु हाउस आफ़ लार्ड्स ( House of Lords ) ने वाल्टर बनाम लेन ( Walter Vs. Lane ) के मुक़दमे में यह फ़ैसला दिया कि यदि संवाद-दाता ने किसी के व्याख्यान की रिपोर्ट तैयार की तो वह रिपोर्ट उसकी मौलिक रचना है और उस पर उसका कापीराइट अधिकार है, क्योंकि उसे तैयार करने में उसे स्वतन्त्र परिश्रम करना पड़ा और उसने उसे लिखने में अपनी मानसिक योग्यता से काम लिया। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ कहीं रचयिता अपनी स्वतंत्र मानसिक योग्यता से काम लेता हुआ किसी वस्तु को अपने ढङ्ग से, अपने शब्दों

में लिखता है, वहीं उसकी रचना क़ानून के अनुसार 'मौलिक' मानी जायगी और उसपर उसका कापीराइट-स्वत्व स्थापित हो जायगा। इसी सिद्धान्त के अनुसार, संग्रह, संकलन, आदि पर रचयिता का कापीराइट स्थापित होता है। यद्यपि उसमें दूसरों की रचनाएँ होती हैं, परन्तु रचयिता का परिश्रम उन्हें एकत्र करने, तरतीब देने तथा उन्हें सुचारु रूप से प्रकाशित करने में है। इसी प्रकार चित्रों आदि में भी समझिए।

'मौलिक' शब्द का ठीक तात्पर्य समझने के हेतु यह स्मरण रखना चाहिए कि क़ानून यह नहीं चाहता कि किसी के परिश्रम का कोई अनधिकार लाभ उठावे तथा उसे हानि पहुँचावे। ऐसी दशा में यदि किसी की रचना दूसरे की रचना के महत्व को हानि नहीं पहुँचाती तो वह चाहे उसकी नक़ल ही क्यों न हो, कापीराइट कानून से रक्षित होगी। वास्तव में अक्षरशः 'मौलिकता' एक असम्भव सी बात है। सर्वतः मौलिक होना ही असम्भव है। समाज में रहकर कोई दूसरों के प्रभाव के अछूता नहीं रह सकता। ऐसी दशा में एक दम 'अदृष्टपूर्वम्'—ऐसा मौलिक होना कल्पना के परे की बात होगी।

साहित्य में 'भावापहरण' अपराध हो सकता है परन्तु कानून से वही 'अपहरण' माना जायगा, जिससे 'मूल' को हानि पहुँचे, उसका महत्व नष्ट हो और उसे क्षति पहुँचे।

कापीराइट क़ानून 'साहित्यिक' रचनाओं का संरक्षण करता है। 'साहित्यिक' शब्द भ्रमात्मक होते हुए भी एक-मात्र शब्द है जिससे यह भाव व्यक्त हो सकता है। लिपिबद्ध, वा मुद्रित-विचार साहित्यिक माने जाते हैं। यदि वे लिखित नहीं हैं तो उन पर रचयिता का स्वत्व नहीं हो सकता। अतः, कापीराइट कानून की शब्दावली में 'साहित्यिक' और प्रचलित 'साहित्यिक' शब्द के अर्थ में अन्तर है—इसे समझना चाहिए। भाव-प्रकाशन की शैली वा तद्‌वत चमत्कार वा रसात्मक-वाक्य-विन्यास से कापीराइट कानून के 'साहित्यिक' शब्द से कोई सरोकार नहीं। यदि यह होता तो फिर किसी रचना की रक्षा ही असम्भव होती क्योंकि यही निर्णय करना असम्भव होता हैं कि कौन सी रचना सचमुच 'साहित्यिक' है। कानून तो प्रत्येक रचयिता के परिश्रम के परिणाम को उसके लिए सुरक्षित सम्पत्ति बनाना चाहता है। इसी हेतु 'साहित्यिक' से उसने केवल इतना ही निर्धारित कर दिया कि रचना शब्दों में लिपिबद्ध हो वा मुद्रित हो। जिसके शब्दों में वह प्रकट हुई है, वही उसका रचयिता है। अतः वह उसका रचयिता है और वह उसकी 'साहित्यिक' रचना मानी जाय। इस श्रेणी में क़ानून की परिभाषा के अनुसार नक़शे, ( chart, plan, table ) और संग्रह वा संकलन सभी आते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर व्यापारियों का सूची-पत्र और परीक्षा के प्रश्नपत्र तक 'साहित्यिक' माने गये

हैं। अनुवाद, नोट, टिप्पणी, संक्षिप्त संस्करण, विज्ञापन आदि तक इसी श्रेणी में आते हैं। सङ्गीत सम्बन्धी रचनाओं को भी कानून संरक्षण देता है। इस प्रकार की रचनाओं में गीत और स्वरलिपि आदि आते हैं तथा अभिनय सम्बन्धी रचनाओं में सिनेरियो, रूपक आदि। कलात्मक रचनाओं में रेखा-चित्र, रङ्गीन चित्र, मूर्तियाँ वा sculpture। कलात्मक यंत्रादि, फ़ोटो, वास्तु और खुदाई के काम, आदि माने गये हैं।

कापीराइट रचयिता की सम्पत्ति है। हम ऊपर देख चुके हैं कि रचयिता का स्वतन्त्र परिश्रम जहाँ-कहीं भी जिस रूप में हो, उस पर उसका कापीराइट माना जायगा। ऐसी अनेक अवस्थाएँ होती हैं जहाँ रचयिता का परिश्रम केवल संग्रह में होता है। ऐसी दशा में यह जानना चाहिए कि उसका अधिकार रचना के सम्पूर्ण रूप पर तो है पर उसके एक-एक अंश पर नहीं। वे दूसरों की कृतियाँ हैं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कापीराइट-स्वत्व का सम्बन्ध उस वस्तु से नहीं वरन् उसके उस आकार वा रूप से है। अतः यह समझना चाहिए कि कापीराइट स्वत्व उस वस्तु से अलग है। अतएव किसी वस्तु वा रचना का अधिकारी होना उसके 'कापीराइट' का अधिकारी होना नहीं है।

कापीराइट की परिभाषा तथा सीमा निश्चित करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कापीराइट का अनुशासन वहीं आरम्भ होता है, जब उस वस्तु वा रचना का

प्रदर्शन वा प्रकाशन होता है। मान लीजिए किसी ने अपना बनाया चित्र बेच दिया। अब ख़रीदनेवाले को उस चित्र पर केवल इतना अधिकार है कि वह उसे अपने पास रक्खे, अथवा उसे बेच दे, परन्तु उसे 'प्रकाशित' करने का उसे अधिकार नहीं है। वह 'कापीराइट' अधिकार है, जो रचयिता की अपनी सम्पत्ति है। इसी हेतु क़ानून, जहाँ कापीराइट का अधिकारी निश्चत करता है, वहाँ यह भी निश्चित करता है कि रचना को प्रकाशन करने का प्रथम अधिकार उसके रचयिता को ही है।

कापीराइट रचयिता की सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति, उस रचना को प्रकाशित करने तथा उसका अन्य प्रकार से उपयोग करने का अधिकार है जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह अधिकार रचयिता की लिखित आज्ञा वा स्वीकृति से हो मिल सकता है, अन्यथा वह वैध न माना जायगा। यहाँ पर यह समझना चाहिए कि 'कापीराइट' अधिकार अनेक प्रकार के छोटे-मोटे अधिकारों का समाहार है और इसी हेतु उसका विभाजन हो सकता है। ऐसी दशा में जितना अधिकार रचयिता लिखकर दूसरे को देगा, उतना ही दूसरे का हो सकेगा, अन्यथा नहीं। जो अधिकार लिख कर नहीं दिया गया है, वह मूल अधिकारी की सम्पत्ति होगी।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जब कि रचयिता की रचना पर उसका कापीराइट नहीं रह जाता; जैसे यदि वह किसी

के यहाँ नौकर हो और उसी अवस्था में उसने रचना की हो, अथवा किसी की आज्ञानुसार उसने रचना की हो— इन दोनों अवस्थाओं में यह प्रमाणित होना चाहिए कि रचयिता को इसका ज्ञान था कि उसकी रचना पर उसका अधिकार जाता रहेगा, क्योंकि उसके बदले में उसे कुछ धन मिल रहा है।

यदि प्रकाशक की नौकरी करते हुए भी किसी ने अपने अवकाश के समय में कोई पुस्तक लिखी वा कोई रचना की तो वह लेखक की सम्पत्ति होगी। ऐसी दशा में जब कि प्रकाशक ने लेखक वा रचयिता को इसी हेतु नौकर रक्खा है कि उसकी रचना पर उसका पूर्ण अधिकार होगा, प्रकाशक उसका पूरा अधिकारी होगा, परन्तु तभी जब कि रचयिता उसे अधिकार लिख कर प्रदान करे। परन्तु यदि प्रकाशक ने किसी विशेष रचना के लिए उसे कुछ धन देकर लिखने का समझौता किया है, तो वह रचना प्रकाशक की सम्पत्ति होगी। सारांश यह है कि कापीराइट:—

( १ ) निजी सम्पत्ति मानी गई है।
( २ ) उसका प्रथम अधिकारी रचयिता है।
( ३ ) रचयिता की बिना लिखित स्वीकृति के यह किसी को नहीं मिल सकता।
( ४ ) कापीराइट अधिकार विभाजित हो सकता है।
( ५ ) जितना अधिकार लिखकर दिया जायगा उतना ही दूसरे को प्राप्त हो सकता है।

( ६ ) बिना लिखा हुआ अधिकार रचयिता का होगा।

( ७ ) कापीराइट अधिकार अन्य सम्पत्ति की भाँति, अधिकारी के बाद उसके उत्तराधिकारी को मिलता है।

( ८ ) कापीराइट अधिकार उस वस्तु से अलग है, जिस पर यह शासन करता है।

( ९ ) कापीराइट अधिकार का अनुशासन 'प्रकाशन' के पश्चात होता है।

( १० ) यदि किसी रचना का प्रदर्शन, अथवा प्रकाशन न हुआ हो तो यह अधिकार कापीराइट कानून का संरक्षण नहीं पा सकता।

**कापीराइट अपहरण**—सम्पत्ति का उपभोग उसके मालिक का सर्वप्रथम अधिकार है—यह कानून का पहला ध्येय है। कापीराइट एक प्रकार की सम्पत्ति है, परन्तु इस विशेष सम्पति की सृष्टि कापीराइट कानून के द्वारा हुई है, अतः उसके अपहरण की बात उठाने के पूर्व उस सम्पति की विशेषताओं और विचित्रताओं को समझ लेना चाहिए।

रचयिता का प्रथम अधिकार उसकी रचना पर कानून सम्मत है। रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं—प्रकाशित और अप्रकाशित। प्रकाशित से तात्पर्य उन रचनाओं से है जो जनता के लिए छापी गयी हों और जो सुलभता से जनता को—अमूल्य वा मूल्य देने पर—प्राप्त हों। केवल रचना का छप जाना, प्रकाशित होने का प्रमाण नहीं है,

इसे अच्छी तरह समझना चाहिए। यदि किसी रचना की कुछ प्रतियाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए वा मित्रों में बाँटने के लिए छापी गयी हैं, तो वह रचना प्रकाशित नहीं मानी जायगी क्योंकि न वह सर्वसाधारण के हेतु सुलभ है, न उनके लिए छापी ही गयी है। प्रकाशित रचनाएँ इसके विपरीत सर्वसाधारण को सुलभ होती हैं। मूल्य देकर उन्हें लोग पा सकते हैं. अथवा बिना मूल्य के भी वे सुगमता से मिल सकती हैं। सारांश यह है कि उनको प्राप्त करने में जनता के लिए कोई रोक नहीं है।

अप्रकाशित रचना हो वा प्रकाशित—दोनों रचयिता की सम्पति हैं। अप्रकाशित रचना को प्रकाशित करने का एकमात्र अधिकार उसके रचयिता को है। इस प्रकार अप्रकाशित रचना में उसके रचयिता के तीन अधिकार अन्तर्हित हैं, इन्हें समझना चाहिए। वे अधिकार ये हैं:—

( १ ) अप्रकाशित रचना की पाण्डुलिपि पर अधिकार।

( २ ) उस पाण्डुलिपि के विषय, भाव, भाषा, विचार आदि पर अधिकार।

( ३ ) उस पाण्डुलिपि वा अप्रकाशित रचना को प्रकाशित करने का अधिकार।

प्रकाशित रचना ही वास्तव में कापीराइट कानून का संरक्षण-क्षेत्र है। अप्रकाशित रचनाओं की 'अप्रकाशित'

अवस्था में रक्षा करने के लिए हमें साधारण सम्पति की रक्षा के निमित्त बने विधान का आश्रय लेना पड़ेगा।

प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों पर कापीराइट कानून लगता है। इस कापीराइट की अवधि कानून ने निश्चित की है। प्रकाशित रचना पर रचयिता का अधिकार उसके जीवन भर तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् उसपर पचास वर्ष तक उसके उत्तराधिकारियों का अधिकार माना गया है। यह नियम प्रत्येक मौलिक रचना के विषय में लागू है। परन्तु भारत में मूल के अनुवाद का अधिकार केवल दस वर्ष तक संरक्षित है। यदि रचयिता ने मूल का अनुवाद स्वयम् दस वर्ष के भीतर प्रकाशित कर दिया वा करा दिया तो दस वर्ष की 'कैद' फिर उस पर लागू न होगी और अनुवाद पर उसका अधिकार आजीवन तथा उसके बाद पचास वर्ष तक माना जायगा।

कापीराइट क़ानून का ध्येय, जहाँ रचयिता के परिश्रम के फल को उसकी वैध सम्पत्ति क़रार देना है, वहाँ उसे इसका भी ध्यान रखना है कि कोई उपयोगी 'ज्ञान' समाज के लिए 'अलभ्य' न हो जाय। 'व्यक्ति' के हित की अपेक्षा 'समाज' के हित को अधिक महत्व देना उचित है। इसी दृष्टि से कापीराइट क़ानून ने उपरोक्त नियम अनुवाद के लिए बना दिये हैं जिसमें किसी रचना के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में सुलभ हो सकें। इस नियम के अतिरिक्त एक नियम और है जिसके अनुसार रचयिता की मृत्यु

के पश्चात् उसकी रचना सुलभ बनायी जा सके। यदि किसी रचयिता की रचना उसकी मृत्यु से पश्चात् पुनः प्रकाशित न होने के कारण अलभ्य हो रही है और उसके उत्तराधिकारी उसे पुनः प्रकाशित नहीं करना चाहते और ऐसा करने की आज्ञा भी नहीं देते, तो क़ानून उन्हें बाध्य कर सकता है कि वे किसी प्रकाशक को उक्त रचना किसी शर्त पर छापने को दे दें। ऐसी दशा में शर्त अदालत ही तै करेगी।

अप्रकाशित रचना को सर्वप्रथम प्रकाशित करने का अधिकार या तो उसके रचयिता को है अथवा उसके उत्तराधिकारियों को। परन्तु प्रकाशित होने पर उपरोक्त नियम लागू होगा।

कभी-कभी रचनाओं के एक से अधिक रचयिता होते हैं। ऐसी दशा में वह रचना संयुक्त सम्पत्ति मानी जायगी और इसलिए उस पर कापीराइट-अवधि का हिसाब रचयिताओं में सर्वप्रथम मृत्यु को प्राप्त होनेवाले के उपरान्त पचास वर्ष तक माना जायगा। रचयिता कौन माना गया है, हमें यह जान लेना चाहिए।

रचयिता वही माना गया है, जिसके परिश्रम का फल रचना हो। परन्तु कभी-कभी रचना में अन्य सहायक भी आवश्यक होते हैं, जैसे नक़ल करनेवाला, सुधार करनेवाला, आलोचक आदि। ऐसी दशा में यह जानना चाहिए कि जिसकी भाषा में रचना है अथवा (चित्रों के सम्बन्ध में)

जिसके हाथ से चित्र बना है, वह रचयिता है। यदि किसी ने उपन्यास का प्लाट बतला दिया वा चित्र का भाव बतला दिया तो वह उसका रचयिता नहीं माना जायगा। जिसने उपन्यास का निर्माण किया वा जिसने चित्र को अङ्कित किया उसी के परिश्रम का वह फल होगा, अतः वही रचयिता होगा। यदि किसी ने आप की पुस्तक की पाण्डुलिपि को सुधार दिया तो उसे 'रचयिता' बनने का अधिकार नहीं है। यह समझ लेना चाहिए कि रचना जिसके मुख्य परिश्रम का फल है, वही रचयिता है। जब एक से अधिक व्यक्ति किसी पुस्तक का निर्माण करते हैं तो यह आवश्यक है कि वे उसमें काफ़ी काम करें। केवल राय देने या संशोधन कर देने मात्र से कोई किसी पुस्तक का संयुक्त-रचयिता नहीं प्रमाणित हो सकता। संयुक्त-रचनाओं के लिए यह आवश्यक है कि वे सब रचयिताओं के संयुक्त-परिश्रम के फल हों और उसमें की समस्त सामग्री सबकी संयुक्त रचना हो। सयुक्त रचना के किसी भी अंश पर सब रचयिताओं का अधिकार है। यह सम्पत्ति विभाजित नहीं हो सकती, पर एक रचयिता दूसरे को, अपनी आज्ञा दिये बिना, रचना को प्रकाशित करने से रोक सकता है। प्रकाशित होने के लिए सभी रचयिताओं वा उनके उत्तराधिकारियों की आज्ञा आवश्यक है। यह संयुक्त सम्पत्ति है, यह स्मरण रखना चाहिए।

कापीराइट की अवधि तथा उसकी विशेषता हम ऊपर

देख चुके। अब उसका अपहरण कैसे होता है इसे देखना है। कापीराइट का अपहरण तभी माना जाता है, जब 'अपहृत' वस्तु का प्रकाशन हो। यदि कोई अपनी नोट-बुक में किसी कापीराइट वस्तु की नक़ल करे तो वह अपहरण वा कापीराइट क़ानून का उलङ्घन न माना जायगा। 'प्रकाशित' होने के लिए अपहरण की हुई वस्तु का सर्वसाधारण में प्रचार वा प्रकाशन आवश्यक है। कापीराइट का अपहरण उन सभी कार्य्यों से होगा, जिससे रचयिता अपने स्वत्वों से वञ्चित किया जाय। कापीराइट अधिकार की सीमा हम प्रथम अध्याय में बतला चुके हैं। इस सीमा का उलङ्घन निम्न प्रकार हो सकता है :—

( १ ) समस्त रचना को अक्षरशः प्रकाशित करना।

( २ ) रचना के किसी अंश को अक्षरशः प्रकाशित करना।

( ३ ) समस्त रचना की, उसके किसी अंश की 'नकल' वा प्रतिरूप प्रकाशित करना। उसे सम्पूर्ण वा अंशतः परिवर्तन सहित प्रकाशित करना जिसमें मूल की छाया स्पष्ट हो।

( ४ ) सम्पूर्ण रचना वा उसके अंश का संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित करना।

( ५ ) सम्पूर्ण वा अंश का अनुवाद प्रकाशित करना।

( ६ ) सर्वसाधारण के लिए उसे प्रदर्शन करना।

( ७ ) 'रूपक' वा 'अभिनयात्मक रूप' बनाना।

( ८ ) उससे प्रदर्शन के लिए यन्त्रादि बनाना।

( ९ ) उसकी 'कापीराइट-उलङ्घित' प्रतियों का व्यापार करना।

क़ानून की शब्दावली में उपरोक्त 'उल्लङ्घन' को 'अपहरण' कहते हैं।

प्रथम प्रकार का अपहरण कम देखने में आता है। लोग ऐसा इसलिए नहीं करते कि वे तुरन्त पकड़े जा सकते हैं। यदि कहीं ऐसी परिस्थिति हो तो यह देखना चाहिए कि इस प्रकार की 'अपहृत' वस्तु का प्रकाशन हुआ है अथवा नहीं। यदि नहीं तो वह कार्य्य अपराध की सीमा तक नहीं पहुँचा। मान लीजिए, किसी ने श्रीयुत 'अ' की कापीराइट-पुस्तक की ठीक-ठीक नक़ल कर ली। परन्तु यदि इस प्रकार की 'नक़ल' का प्रकाशन नहीं हुआ है तो यह अपराध नहीं हुआ। अपने निजी काम के लिए किसी की पुस्तक की प्रतिलिपि करना जुर्म नहीं है, परन्तु यदि उसकी अनेक प्रतियाँ बनाकर वितरण किया जाय तो वह 'अपराध' होगा।

दूसरे प्रकार का 'अपहरण' अधिक देखा जाता है। परन्तु इस प्रकार के 'अपहरण' को अपराध प्रमाणित करने के लिए यह साबित करना पड़ेगा कि जितना अंश लिया गया है, उससे मूल रचना को भारी हानि पहुँची है और उसका महत्व नष्ट हो गया है। यदि कोई व्यक्ति

अपने अध्ययन के लिए किसी पुस्तक की नक़ल करता है तो वह अपराधी नहीं है। इसी तरह समालोचना में, आलोचना में, स्वाध्याय के लिए, पत्र में सारांश छापने के हेतु यदि किसी अंश का उद्धरण दिया जाय तो वह अपराध नहीं। स्कूली पुस्तकों के लिए किसी भी रचयिता की रचना से पाँच वर्ष के भीतर दो अंश लिए जा सकते हैं। परन्तु इससे अधिक लेना 'अपहरण' होगा और यह केवल 'साहित्यिक' रचनाओं के लिए वैध है। यहाँ एक बात स्मरण रखना चाहिए कि 'अप्रकाशित' रचना के लिए यह नियम नहीं है। अप्रकाशित रचना का प्रकाशन ही, यदि उसके मालिक की आज्ञा बिना हुआ है तो, अपराध है।

स्वाध्याय आदि के लिए 'अपहरण' कहाँ तक क्षम्य है, यह ऊपर कह चुके हैं, परन्तु स्कूली पुस्तकों के लिए ये बातें जान लेना चाहिए। किसी भी स्कूल की पुस्तक के लिए किसी की भी रचना के दो अंश पाँच साल के भीतर लिए जा सकते हैं। परन्तु यह याद रहे कि जिस पुस्तक से वह रचना उधृत की जाय वह स्वयं स्कूल के लिए न हो। और जिसमें ऐसी रचना उधृत की जाय वह स्पष्ट रूप से स्कूल के लिए हो—प्रकाशक ने भी यह विज्ञापित किया हो और उक्त पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर भी ऐसा ही लिखा गया हो।

जहाँ इस प्रकार किसी अंश का अक्षरशः प्रकाशन होता है वहाँ अपराधी अपनी सफ़ाई में दो बातें पेश करता

है कि उसने वह अंश उसी जगह से लिया है जहाँ से वादी ने लिया था। ऐसी अवस्था में यह प्रमाणित करना होगा कि प्रतिवादी ने वादी की पुस्तक का उपयोग नहीं किया। प्रतिवादी ने केवल प्राइवेट स्टडी के लिए वा आलोचना आदि के लिए, अथवा स्कूल की पुस्तक के लिए ऐसा किया है।

तीसरे प्रकार का अपहरण ( नकल ) बहुत प्रचलित है। परन्तु उसे पकड़ने के लिए यह प्रमाणित करना होगा कि प्रतिवादी ने 'वादी' की रचना का उपयोग किया है।

चौथे प्रकार का अपहरण (संक्षेप करना) प्रमाणित करने के लिए यह साबित करना होगा कि मूल पुस्तक की तरतीब, भाव, भाषा—तीनों अपहृत प्रति में हैं और इस अपहृत प्रति के प्रकाशन से मूल को हानि पहुँचेगी।

पाँचवें प्रकार का अपहरण 'अनुवाद' करना है। भारत में अनुवाद न करने की अवधि दस वर्ष है। इसके पश्चात् अनुवाद का अधिकार सुरक्षित नहीं है।

छठे, सातवें प्रकार के अपहरण स्पष्ट हैं। आठवें प्रकार के अपहरण में फिल्म बनाना, रेकार्ड बनाना, आदि आते हैं। नवें प्रकार के अपहरण में वे लोग अपराधी माने जायँगे जो इस प्रकार 'अपहृत' प्रतियों का रोज़गार करते हैं। कापीराइट क़ानून की धारा २ उपधारा २ के अनुसार यदि कोई व्यापार के लिए 'अपहृत' पुस्तक को बेचता है, बाहर मँगाता है, वितरण करता है अथवा

उसका प्रदर्शन आदि करता है तो वह 'अपहरण' का दोषी समझा जायगा। यदि कोई इसकी सफाई दे कि उसे इसका ज्ञान नहीं था कि ऐसा करना नियम-विरुद्ध है तो वह सफाई मानी नहीं जायगी। क़ानून से अपरिचित होना क्षम्य नहीं है। हाँ, इस बात की अनभिज्ञता क्षम्य हो सकती है कि प्रतिवादी को यह नहीं मालूम था कि ऐसा करना 'अपहरण' होगा। इस हेतु वादी को चाहिए कि मुक़दमा दायर करने के पूर्व वह प्रतिवादी को 'नोटिस' दे दे।

ऊपर लिखी बातें 'साहित्यिक' पुस्तकों तथा रचनाओं के विषय में हैं, जिनका प्रकाशन छाप कर ही होता है। अभिनय सम्बन्धी तथा कलात्मक आदि रचनाओं के सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

**कापीराइट का लेना-देना**—अन्य सम्पत्ति की भाँति कापीराइट भी सम्पत्ति मानी गयी है जिसका लेन-देन बिना लिखे-पढ़े क़ानूनी नहीं माना जाता। यदि रचनाकार किसी को अपनी प्रकाशित रचना का कापीराइट लिखकर नहीं दे जाता तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उस पर उसके उत्तराधिकारी का हक़ होता है। अप्रकाशित रचना की पाण्डुलिपि यदि रचयिता किसी को लिखकर 'प्रदान' कर जाय तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका कापीराइट भी उसी व्यक्ति का अधिकार समझा जायगा। मान लीजिए देवदत्त शर्मा ने मरते समय अपनी सारी सम्पत्ति विष्णु शर्मा को लिख दी और अपनी रचना की पाण्डुलिपि कृष्ण शर्मा को लिख

दी। ऐसी अवस्था में कृष्ण शर्मा को उक्त पाण्डुलिपि पर पूरा कापीराइट अधिकार प्राप्त हो गया और वह इच्छानुसार उसे प्रकाशित करें और उसका उपयोग करें। प्रकाशित रचनाओं के विषय में केवल इतना ही काफी नहीं है कि रचयिता ने कापीराइट का अधिकार लिख दिया है, वरन देखना यह है कि कितना अधिकार और किस प्रकार का अधिकार लिखकर दिया गया है। कापीराइट अनेक अधिकारों का समाहार है। अतः, उसका विभाजन हो सकता है।

सम्पूर्ण कापीराइट का 'देना' कैसे प्रमाणित होता है?—यदि रचयिता पूरा मूल्य या पारिश्रमिक लेकर अपनी रचना पर 'पूर्ण अधिकार बेचा' लिख देता है तो उस रचना का कापीराइट उसके हाथ से चला जाता है। प्रकाशक तथा लेखक के लिखित समझौते में दीवानी अदालत यह देखती है कि उनके शब्दों के भीतर उनका 'उद्देश्य' क्या था। जब एक लेखक प्रकाशक से पेशगी पाये हुए रुपयों के बदले उसे एक पुस्तक लिखकर देता है और अपना ऋण चुकाता है तो यही माना जायगा कि लेखक ने अपनी पुस्तक पर 'पूर्ण अधिकार' प्रकाशक को दे दिया है। परन्तु यदि रचना पर 'पूर्ण अधिकार' सदा के लिए नहीं दिया जाता तो उस पुस्तक का कापीराइट लेखक की सम्पत्ति मानी जाती है। जब कभी लेखक पुस्तक पर 'रायल्टी' पाता है तो किसी दशा में भी वह प्रकाशक की

सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती और लेखक जब चाहे नियमानुसार अपना कापीराइट वापस ले सकता है।

**कापीराइट विभाजन**—कापीराइट का विभाजन निम्न आधार पर हो सकता है। ( १ ) काल, ( २ ) स्थान वा देश, ( ३ ) प्रकाशन विधि।

**काल**—जितने वर्षों तक लेखक चाहे कापीराइट दे। उसके बाद वह उसकी सम्पत्ति होगी। परन्तु इस काल की अवधि लेखक का जीवनकाल तथा उसके पश्चात् पचीस वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। इसके बाद कापीराइट अधिकार उसके उत्तराधिकारी का होगा। इस नियम के अपवाद हैं। यह नियम केवल उन रचनाओं पर लागू होता है जिन पर पूर्ण अधिकार रचयिता का अकेला अपना हो।

**देश**—रचयिता अपनी पुस्तक के लिए देश निश्चित कर सकता है। परन्तु एक राज्य में एक ही को वह अधिकार दे सकता है। श्रीयुत 'अ' अपनी पुस्तक 'अमुक' का कापीराइट ब्रिटिश भारत के लिए एक ही को दे सकते हैं, अन्य देशों के लिए दूसरे को। परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब कि श्रीयुत 'अ' को अन्य देशों के क़ानून के अनुसार कापीराइट अधिकार प्राप्त हो चुका हो।

**प्रकाशन-विधि**—लेखक यह लिख सकता है कि उसकी पुस्तक किस भाषा में और किस रूप में प्रकाशित हो; उसका फिल्म बने, उसका रेकार्ड बनाया जाय, उसका अभिनय किया जाय, उसके अनुवाद छापे जायँ, आदि।

कापीराइट बेच देने पर भी रचना पर रचयिता का कुछ अधिकार रहता है। वह उसी की रचना मानी जानी चाहिए। क्योंकि क़ानून की धारा ६ उपधारा ३ के अनुसार जिसका नाम रचना के मुख-पृष्ठ पर 'रचयिता' के स्थान पर प्रकाशित होता है, वही रचयिता माना जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक प्रकाशित प्रति पर रचयिता या प्रकाशक का नाम छपना ही चाहिए। प्रकाशक का नाम प्रत्येक पुस्तक पर स्पष्ट छपना चाहिए—यह यद्यपि कापीराइट क़ानून का अनुशासन नहीं है, पर प्रेस-ऐक्ट की धारा ऐसा करना आवश्यक बतलाती है। यदि कोई प्रेस इस नियम का उलङ्घन करता है, तो उसे प्रेस ऐक्ट की धारा १२ के अनुसार क़ैद तथा जुर्माने की सज़ा दी जा सकती है। प्रत्येक पुस्तक के साथ प्रेस को एक 'वक्तव्य' या 'मेमोरेंडम' देना पड़ता है, जिसमें लेखक वा रचयिता का नाम देना पड़ता है।

कापीराइट अधिकार देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रचयिता अपने पूर्ण अधिकार में से कितना अंश देना चाहता है और केवल उतना ही स्पष्ट शब्दों में लिखा जाना चाहिए। कापीराइट क़ानून की धारा ५ की उपधारा २ के अनुसार रचयिता की मृत्यु के पश्चात् पच्चीस वर्षों के बाद उसका अधिकार अपने आप उसके उत्तराधिकारी को मिल जाता है। फिर वह उसकी सम्पत्ति हो जाती है और उत्तराधिकारी अपनी इच्छानुसार

उसका जो चाहे कर सकता है। यह नियम केवल उन्हीं रचनाओं के लिए है, जिनका प्रथम अधिपति 'रचयिता' हो। ऐसी दशा में संग्रह, ( जिसमें अनेक अन्य रचयिताओं की रचनाएँ हो सकती हैं ) वा ऐसी रचना, जिसका प्रकाशन रचयिता की मृत्यु के पश्चात् हुआ हो, इस नियम से शासित नहीं होते।

'कापीराइट बेचा' लिखने के अतिरिक्त क़ानून की धारा ५ उपधारा २ के अनुसार 'लाइसेन्स' वा 'अधिकार' भी रचयिता दे सकता है। यह अधिकार प्रदान भी लिखित ही होना चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि 'लाइसेन्स' देने पर प्रथम अधिपति का कोई अधिकार उससे पृथक् नहीं होता और 'लाइसेन्स' प्राप्त करनेवाला किसी स्वतन्त्र अधिकार का हक़दार नहीं होता। वह अपना अधिकार किसी दूसरे को नहीं दे सकता। यदि यह प्रमाणित हो कि कापीराइट के अधिपति ने उक्त व्यक्ति को किसी विशेष कारण से 'लाइसेन्स' दिया था, तो ऐसी दशा में 'लाइसेंस पानेवाला किसी अन्य को अपना अधिकार नहीं दे सकता या तो वह स्वयम् उसका उपभोग करे अथवा लाइसेन्स देनेवाले को वह लौटा दे।

कापीराइट-अधिकार प्राप्त कर लेने पर उसके अधिकारी को रचना में परिवर्तन वा परिवर्धन करने का अधिकार उसी दशा में प्राप्त है, जब कि उसने उस रचना को

ख़रीद लिया हो या उस पर पूर्ण कापीराइट प्राप्त कर लिया हो।

ऐसी दशा में परिवर्तन आदि उतनी ही मात्रा में हो सकते हैं जिसमें मूल रचयिता की ख्याति को आघात न पहुँचे. अन्यथा रचियता हर्जाने का दावा कर सकता है। किसी भी दशा में 'परिवर्तन' या 'परिवर्धन' के लिए उसके मूल लेखक को उत्तरदायी न बनाना चाहिए। यदि रचना का सम्पूर्ण कापीराइट प्राप्त नहीं किया गया है तो उसमें रचयिता की आज्ञा बिना परिवर्तन भी नहीं हो सकता।

एक से अधिक व्यक्तियों की रचना का कापीराइट तभी प्राप्त हो सकता है, जब सब रचयिता मिलकर इसकी आज्ञा दें। यदि सब रचयिता प्रकाशन की आज्ञा नहीं देते तो वह पुस्तक प्रकाशित नहीं की जा सकती। अतः, संयुक्त रचनाओं के लिए प्रकाशक को सब रचयिताओं से आज्ञा लेनी चाहिये। यदि उनमें से किसी एक रचयिता की आज्ञा नहीं ली गई, तो वह पुस्तक का प्रकाशित करने से रोक सकता है। यदि किसी दम्पति ने भी मिलकर कोई रचना की हो तो वह उनकी संयुक्त सम्पत्ति होगी पर ऐसा होते हुए भी पत्नी का हक़ उसका स्वतन्त्र हक़ समझा जायगा और वह उसकी निजी सम्पत्ति होगी। कापीराइट ऐक्ट, धारा १६ उपधारा ४ के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है।

लेखक और प्रकाशक के बीच का समझौता या आदान-प्रदान लिखित होना चाहिए।

# १७—सफलता की कुंजी

मिस्टर साइमोण्ड्स का कहना है—"मौलिकता कोई वस्तु नहीं होती। प्रकाशित वस्तुओं में (सामयिक-साहित्य में) किसी लेखक ने मौलिकता नहीं दिखाई। लेखक का धर्म है अपना दृष्टिकोण उपस्थित करना, जीवन की अपनी व्याख्या उपस्थित करना। इन बातों में कोई मौलिकता नहीं—ये सब नित्य की घटनाएँ हैं, संसार के साधारण व्यापार हैं।"

यदि आपकी रचना पर कोई संपादक टिप्पणी करे कि यह मौलिक नहीं, तो उसका यह तात्पर्य है कि आपकी रचना साधारण, पुराने ढर्रे की है। अमौलिक से तात्पर्य मौलिकता-रहित नहीं, वरन् विशेषता हीन से है। रचनाओं में नवीनता का होना ही विशेषता है। यह मौलिकता है, जिसकी मांग प्रत्येक अच्छे पत्र के संपादक को रहती है। यदि अपने लेख में आप कोई नया दृष्टिकोण उपस्थित नहीं कर सकते तो निश्चय आपकी रचना में नवीनता न होगी। नवीनता लाने के लिए अपने विषय का अच्छा अध्ययन होना चाहिये।

लेखक के लिए अध्ययन उसके व्यवसाय का आवश्यक अंग है। परन्तु वह अध्ययन केवल अध्ययन के लिए नहीं वरन् 'लेखन' के लिए होना चाहिए। लेखक को केवल वे ही

पुस्तकें पढ़नी चाहिये, जिन्हें पढ़कर वह कुछ लिख सके। 'लिखने के लिए पढ़ना'—लेखक का उद्देश्य होना चाहिए कभी अपने को विवश कर पुस्तकें न पढ़े। यदि पुस्तक में मन न लगे तो पढ़ना बेकार है। बहुत से ऐसे विषय हैं जिन्हें लेखक धीरे-धीरे पढ़कर समझता है। पढ़ना लेखक का परम कर्तव्य नहीं। उसे पुस्तकें केवल सहायतार्थ पढ़ना उचित है।

रचनाओं के लिए लेखक को विचार और वस्तु की आवश्यकता रहती है। उसे नया दृष्टि-कोण ढूँढ़ निकालना पड़ता है। इसके लिए उसे अपनी रुचि पर भी निर्भर रहना होगा। जीवन का अवलोकन लेखक के लिए कुछ कम नहीं। पुस्तकों में सुरक्षित प्रौढ़ विचार केवल उत्तेजक का काम दे सकते हैं। अपनी रुचि के अनुरूप विषय चुनिए, उसके अनुसार अपने विचार प्रकट कीजिए—किसी नवीन दृष्टि-कोण से समय और परिस्थिति को देखकर। निश्चय आपकी रचनाएँ सर्वप्रिय होंगी। उनकी माँग होगी।

लेखक वही है जो लिखता है। ऐसा लेखक 'वस्तु' के लिए भूखों नहीं मरता। संसार की प्रत्येक वस्तु में उसे लिखने की सामग्री मिल सकती है। संसार के प्रत्येक व्यापार में उसे आकर्षण प्रतीत होता है, विश्व का कण-कण उसके विचारों को झंकृत करता है। प्रत्येक उसे अपनी व्याख्या करने और उसे संसार के सन्मुख उपस्थित करने की प्रेरणा देता है। लेखक पाठकों को सदा सदेश देता

रहता है—"देखो संसार की समस्त वस्तुओं में चमत्कार है। पत्थर अपना गान सुनाते हैं—बहती हुई सरिता में मधुर संगीत वर्तमान है—कूड़े-कर्कट में अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं।" इस संदेश को प्रमाणित करना लेखक की सफलता है।

कुछ लोग कहते हैं अमुक में कलात्मक वृत्ति है। यह सब व्यर्थ की प्रशंसा है। 'वृत्ति' के भरोसे लेखक नहीं रहता। व्यावसायिक लेखक 'अमुक-वृत्ति' का आश्रय नहीं लेता। वह अपनी 'जाति' के साधारण सदस्यों से भिन्न नहीं रहना चाहता। उसकी विशेषता अपने समाज के साथ रहने में है। असाधारण प्रकार की 'अनुभूति' या 'स्वभाव' बनाना स्वार्थ का दूसरा रूप है। यह आंतरिक कमजोरी का बाह्य लक्षण है—अथवा यों कहें कि यह अवसर पर कुछ न कर सकने की अशक्यता की अज्ञात पराजय है।

कुछ लेखकों की आदत है कि वे इस शान से कहते हैं कि 'हम तो ऐसी दशा में, केवल ऐसी अवस्था में ही रचना कर सकते हैं।' वे समय, परिस्थिति, वातावरण—आदि के दास हैं—हम यों कह सकते हैं। 'आदत'—भी पराधीनता का एक लक्षण है। चैतन्य मनुष्य आदतों का शिकार नहीं होता। लेखक वही होगा जो अवसर पर लिखे। उसके लिए संसार अध्ययन-कक्ष है—रेल का तीसरा डिब्बा शांत-मय लेखन-कक्ष है। उसके लिए 'तरंग' का बन्धन नहीं—हम कलाकारों की बात नहीं करते और न कवियों की।

कुछ लेखकों की आदत है कि वे अपने में विशेषताओं

का 'पक्ष' लगाने में अभिमान करते हैं। कुछ तो समाज से ऐसे अलग रहना चाहते हैं मानों वे समाज के प्राणी ही नहीं। यह एकांगी विकास है जो मनुष्य के लिए कल्याण-कारी नहीं। यदि हम सामाजिक मनुष्य न हुए तो हम सामाजिक पशु भी न हो सकेंगे। समाज से विमुख रहना, सामयिक जगत से बिल्कुल उदासीन होकर अपने में विशे-षता लाने का प्रयत्न श्लाघ्य नहीं।

'कलाकार' और साधारण मनुष्य में यही अंतर है कि वह संसार को जैसा है वैसा न समझ कर उसे उससे अधिक 'अच्छा' समझता है। फलतः उसे पद-पद पर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सर्व-साधारण से अपने को दूर रखे। उसकी सफलता पाठकों को दूसरी दुनिया की सैर करा लाने में अवश्य है—उसमें स्वयं जाकर बस जाने में नहीं। एक पाश्चात्य विचारक का कथन है कि सभ्य पुरुष वह है जो किसी को दुःख नहीं पहुँचाता, चाहे उसे स्वयं दुःख सहना पड़े। कलाकार को 'सभ्यपुरुष' अवश्य होना चाहिए। कितने दुःख की बात है कि हमारे यहाँ 'कलाकार' कहलानेवाले व्यक्तियों में अधिकतर संख्या उनकी है जिनमें हम 'विनय' की कमी पाते हैं। वे 'तरंग' की प्रतीक्षा में रहते हैं। उनमें आलस्य की माया अधिक है। यदि वे लेखक हैं, तो यह आलस्य उनके लिए घातक प्रमाणित होगा—'तरंग' की प्रतीक्षा में उनकी पराधीनता की घोषणा होगी।

'तरंग' व्यर्थ की बकवास है। लेखन-व्यापार अनुन्वीक्षण, चिंतन, अध्ययन और परिश्रम का फल है। लेखक के लिए लिखना बंद करना उसी समय क्षम्य है जब उसके पास लिखने के लिये विचार न हो—शक्ति न हो। ऐसा जान पड़ता है कि जब उसके पास विचारों का दिवाला हो जाता है तब वह 'तरंग' की अनुपस्थिति का बहाना ढूंढ़ निकालता है। सच्चा लेखक 'तरंग' का आश्रय नहीं लेता। वह परिश्रम करता है—अध्ययन-द्वारा विचारों का संग्रह करता रहता है, चिंतन-द्वारा उनमें नवीनता लाता रहता है और अभ्यास द्वारा अपने मस्तिष्क को ऐसा प्रौढ़ बना लेता है कि वह अपना समय 'तरंग' की प्रतीक्षा में नहीं नष्ट करता।

भाग्यवादी - पराधीन देश में 'प्रतिभा' का अभाव भी आत्म-संतोष के लिए एक आश्रय है। प्रतिभा स्वयं नहीं प्रकट होती। उसे प्रकट करना होता है। लेखक को चाहिए कि वह नियत समय पर लिखने बैठ जाय। नियम-पूर्वक ठीक समय पर अपना कार्य्य आरम्भ करे। यदि उसके कार्य्य क्रम में शिथिलता आवे तो उसे अपने को दण्ड देना चाहिए। नित्य लिखना चाहिए। यदि कोई लिखने की बात न हो तो उसे ढूंढ़ निकालिए। सोचिए, किस पर लिखें? चिंतन लेखन-कला का प्रधान अंग है। चिंतन का अभ्यास करना चाहिए। कल्पना सदा जाग्रत रहती है—विचार कभी सोते नहीं। लेखक में उन्हें ठीक समय पर, ठीक तरीके से लिपि बद्ध करने का ज्ञान होना चाहिए।

भिन्न भिन्न विचारों को नये रूप में प्रकट करना ही 'सूझ' है। यही रचनाओं में नवीनता लाती है जिसे संपादक लोग 'मौलिकता' कहते हैं।

अवस्था—उम्र का तकाज़ा भी लेखकों का एक साधारण बहाना है। शारीरिक अवस्था का असर हम पर अवश्य पड़ेगा—इसे कौन नहीं करेगा। परन्तु आधुनिक युग में सतयुग का 'इतमीनान' भी कोई सहन नहीं कर सकता। इस युग में संसार की गति नित्य प्रति बढ़ती जा रही है। पाठकों को भी उसी गति से मस्तिष्क को भोजन देते रहना लेखकों का काम है। हमारे लिए 'आज' बैठा नहीं रहेगा। सामयिक साहित्य की उपयोगिता सामयिकता में ही है और उच्च साहित्य की संसार के संघर्षण से थके हुए मन को 'विश्राम' देने में। आख़िर कला है क्या? या तो यह 'सत्य' की खोज है अथवा उसकी कठोरता से परित्राण। मनुष्य—आजकल का मानव समाज 'हाय हाय' का शिकार हो रहा है। बस दौड़—संघर्ष—विजय—उसका ध्येय हो रहा है। ऐसी दशा में पाठकों का वर्ग ज्ञान के लिए कुतूहल-शान्ति के लिए, लेखकों का मुखापेक्षी हो रहा है। ऐसी दशा में हम लेखक गण यदि 'तरंग' की प्रतीक्षा में बैठे रहेंगे—यदि 'सुबीते' की अनुपस्थिति का बहाना करते रहेंगे तो अनर्थ ही हो जायगा। हमें 'सामयिक' रहना पड़ेगा और इस हेतु सकुतूहल, साश्चर्य,

जिज्ञासा सहित, सतर्क, चैतन्य रहना होगा। हाँ, यदि आप लेखक हैं और सच्चे लेखक।

वर्तमान युग भावुकता के भरोसे नहीं चल रहा है। वह खुली आँखों से देखता है—समझता है—यथार्थ को, (सत्य को नहीं—हम भारतीय की हैसियत से कहेंगे); यह विज्ञान का युग है। आजकल की भावुकता सहानुभूति में है आध्यात्मिकता में नहीं। वर्तमान युग में कला का दूसरा नाम है 'यथार्थवाद'। यथार्थवाद से यह न समझिए कि आप 'सत्य' का साक्षात् नग्नचित्र उपस्थित कर अपनी लेखनी को सफल कर सकते हैं। आपको फोटोग्राफर न बनकर चित्रकार बनना होगा। 'साक्षात्' वा 'प्रत्यक्ष' का सुन्दर रूप उपस्थित करना कलाकार का धर्म है। कला का उद्देश्य जीवन को पवित्र करना—मनुष्य को ऊपर उठाना है। साहित्य में यदि 'सत्यम्' है तो 'सुन्दरम्' और 'शिवम्' का बंधन भी उसके लिए अनिवार्य है।

कल्पनाशक्ति ही सफल पुरुषों की सफलता का रहस्य है। जितने बड़े बड़े लोग हुए हैं प्रायः सब में यह गुण वर्तमान था कि वे बहुत दूर तक की और स्पष्ट रूप से सोच सकते थे। जीवन में सफल वे ही लोग होते हैं जिनकी कल्पनाशक्ति तीव्र होती है, जो भविष्य में आनेवाली बातों की कल्पना कर सकते हैं। वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर भविष्य की कल्पना कर लेना ही बुद्धिमत्ता की निशानी है।

संसार के जितने महान आविष्कारक, विचारक, नेता और सफल पुरुष हुए हैं सब की सफलता की यही कुञ्जी थी।

छोटे बड़े सभी के लिए कल्पनाशक्ति ही सफलता का मार्ग दिखलाती है। यदि लेखक, उपन्यास, कहानी या नाटक अथवा कविता ही लिखना चाहता है तो भी बिना कल्पना के उसे सफलता नहीं मिल सकती। यदि उसे 'मौलिक' बनना है तो उसे अपनी कल्पना की बाग किसी नई दिशा की ओर मोड़नी पड़ेगी।

लोग कहते हैं—विशेषकर भाग्यवादी देश के निवासी, कि उसके हेतु 'प्रतिभा' जन्मसिद्ध होती है। पर अन्य सफल देश ऐसा नहीं मानते। मिस्टर जेम्स एल० मर्सल का कहना है कि कल्पना-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। यदि हम सावधानी से कार्य्य करें तो हम निश्चय अपने मस्तिष्क की शक्ति बढ़ा सकते हैं। मिस्टर मर्सल इस हेतु कुछ उपाय बतलाते हैं जिनका सारांश नीचे दिया जाता है।

१—विचार यों ही नहीं आ टपकते। इस हेतु हमें उसके अनुरूप विशेष परिस्थिति में रहना चाहिए। अपनी रुचि को एक विशेष विषय में केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न कीजिए।

२—नोट-बुक रखने की आदत डालिए। यदि जेब में नोट-बुक रहेगी तो बहुत से विचार नष्ट न हो कर लिपि-बद्ध हो जायँगे। पढ़ते, लिखते, टहलते, बात-चीत करते समय—कभी भी कोई नई कल्पना, विचार मन में उदय

हो तो उसे तुरन्त नोट कर लेना चाहिए। प्रति सप्ताह उन लिखे हुए विचारों पर कुछ देर तक सोचना चाहिए। अपने मन के घोड़े को उन पर दौड़ाना चाहिए। निश्चय कोई-न-कोई नया विचार, नई तर्क-शैली की कल्पना उठेगी। उन्हें भी लिख लेना चाहिए। यदि इस प्रकार वर्ष भर तक किया जाय तो निश्चय उसका फल स्पष्ट दिखाई देगी।

३—अपनी कल्पना को चक्कर लगाने के लिए मुक्त करते समय इसका ध्यान रखना चाहिए कि उसका केन्द्र आँखों से ओझल न हो। इधर-उधर भटकने से हमारी कल्पना कुछ न कर सकेगी। यदि हम किसी बात पर सोचें और एक विशेष दृष्टिकोण से सोचें तो अधिक सफलता होगी। व्यर्थ मन के घोड़े दौड़ाने से कोई लाभ नहीं। हमारा उद्देश्य निश्चित होना चाहिए। विचारों के मौलिक होने के लिए दृष्टिकोण भी मौलिक होना चाहिए।

४—कल्पना द्वारा वस्तुओं के साक्षात् करने का अभ्यास करना चाहिए। मन में सोचिए—समस्त सम्भव बातों को और परिस्थितियों को। कभी कभी वे हास्यप्रद प्रतीत होंगी। पर उसकी चिन्ता न कीजिए। कभी-कभी-ऊटपटाँग विचार ही संसार में क्रान्ति के उत्पादक हुए हैं। विचारों का गला घोटना ठीक नहीं। उन पर नियंत्रण रखना उचित है। लोग कहते हैं; कल्पनाशील व्यक्ति बे-बात-की-बात निकालते हैं; पर ऐसी बात नहीं है। बिना किसी विषय को अच्छी तरह जाने कोई उसके बारे में कुछ

भी कल्पना नहीं कर सकता। मनुष्य के अनुभूत-ज्ञान और उसकी मौलिक विचारशक्ति में निश्चित सम्बन्ध-सूत्र रहता है।

५—यदि कभी कल्पना उठे तो उसे अंत तक ले जाना चाहिए। विचारों की शृङ्खला को आरम्भ कर किसी अंत तक पहुँचाना चाहिए। अधूरे काम को छोड़ने की आदत बुरी है।

६—जिस काम को करो उसे सदा सोचते रहो। कभी कभी अवकाश के समय कोई ऐसी बात सूझ जाती है जिससे उस कार्य्य में सहूलियत हो जाती है। एकांत में बहुत से विचार उठते हैं—उनका उपयोग करना चाहिए। चिन्तन मानसिक शक्ति की संजीवनी है। यही सफलता की कुञ्जी है।

---

## १८—प्रूफ़-संशोधन

बहुत से हिन्दी के लेखक और कवि शायद प्रूफ़रीडिंग वा प्रूफ़-संशोधन का नाम भी नहीं जानते। पर वास्तव में प्रूफ़रीडिंग एक कला है, जो संकेत-लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। समस्त पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ जो आप बाज़ारों में बिकती हुई देखा करते हैं वे अपने

आप ही नहीं छप जातीं। यह कम्पोज़ीटरों एवं प्रूफ़रीडरों के अविरल परिश्रम का फल है कि हमें पुस्तकों और अख़बारों का एक-से-एक मनोहर रूप देखने को मिलता है। यदि प्रूफ़रीडरों को प्रेस के संचालन में कोई भाग न दिया जाय, तो शायद छपी हुई चीज़ों का जो रूप हमें दिखाई दे वह विचित्र हास्य की सामग्री बन जाय। प्रेस के कर्मचारियों को अँग्रेज़ी में 'प्रेस का भूत' तो वैसे ही कहा जाता है। शायद जब प्रूफ़रीडरों के द्वारा छपाई का असशोधित रूप जनता के सम्मुख जायगा तो ईश्वर जाने कौन सी नई विचित्रतम उपनाम का प्रयोग करना पड़े। इसलिए जितना अच्छा प्रूफ़रीडर होगा उतनी ही आकर्षक और शुद्ध पुस्तक छपेगी। प्रूफ़रीडर का मस्तिष्क एक भंडार है जिसमें सभी तरह की जानकारी पड़ी रहती हैं और समय समय पर वह उनका उपयोग करता है।

पश्चिमीय देशों में प्रूफ़रीडिंग पर बहुत ध्यान दिया जाता है। वहाँ प्रूफ़ पढ़नेवालों को पर्याप्त वेतन (तनख़ाह) देते हैं और केवल कुशल प्रूफ़रीडर ही रखे जाते हैं। इस कारण विलायत में छपी पुस्तकें जितनी शुद्ध और आकर्षक होती हैं उतनी हमारे यहाँ की छपी अभी तक नहीं हो सकीं। हों भी कैसे ? यहाँ तो सस्ते-से-सस्ते प्रूफ़ पढ़नेवालों की माँग है, और यदि प्रेस के मैनेजरों का बस चले तो वे मुफ़्त में ही प्रूफ़रीडिंग कराया करें। हमारे यहाँ लोग समझते हैं कि जिसने पढ़ना-लिखना सीख लिया है वह

प्रूफ़ पढ़ने का कार्य भी कर सकता है किन्तु यह विचार सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।

प्रूफ़रीडर की योग्यता कम-से-कम इतनी अवश्य होनी चाहिए कि जिस भाषा का प्रूफ़ उसको पढ़ना हो उस भाषा का वह अच्छा जानकर हो। व्याकरण, हिज्जे वा वर्ण-विन्यास, विराम-चिह्न आदि का तो उसे निपुण जानकार होना चाहिए। साथ ही प्रायः सभी विषयों का साधारण ज्ञान होना चाहिए जिसमें किसी भी विषय की पुस्तकें उसको सशोधन के लिए मिलें तो वह उनका उचित संशोधन कर सके। यदि वह ऐसा न होगा तो बहुत सी गलतियों के छूट जाने की सम्भावना है : हमारा मतलब यह नहीं कि वह सर्वविद्यापारंगत हो। लेकिन फिर भी यदि उसे लेखन कला के प्रत्येक अंग का थोड़ा बहुत भी ज्ञान न होगा तो वह अच्छा प्रूफ़रीडर कैसे हो सकता है। प्रूफ़ पढ़ना इतना साधारण काम नहीं है कि उसे सभी मनुष्य कर सकें। इसके लिए जो जितना ही अधिक पढ़ा-लिखा होगा वह उतनी ही अधिक कुशलता से प्रूफ़ पढ़ सकेगा। इसके अतिरिक्त विशेष ज्ञान भी उसके लिए आवश्यक है। चित्रकला का भी उपयोग 'मेक-अप' में करना पड़ता है। अतः, प्रूफ़रीडर यदि चित्रकला से प्रेम रखता है तो और भी अच्छा। इससे वह छपाई को बढ़िया आकार प्रदान कर सकेगा। प्रूफ़रीडर की दृष्टि को जितनी ही तीव्र और छिद्रान्वेषिणी होनी चाहिए उतनी ही उसमें सहनशीलता और धैर्य की क्षमता भी

अपेक्षित है। कभी-कभी जब रद्दी और गन्दा प्रूफ़ सामने आता है, उस समय सचमुच कम्पोज़ीटर पर बेहद झल्लाहट आती है। ऐसे समय यदि प्रूफ़रीडर ने सहनशीलता वा धैर्य से काम न लिया तो वह पुस्तक कभी भी छप सकेगी—यह संदिग्ध ही है।

प्रूफ़रीडिंग की कला के सम्बन्ध में कुछ जानने के पूर्व यह जानना परमावश्यक है कि प्रूफ़ है क्या चीज़। जो कुछ हम छपने के लिए प्रेस में देते हैं उसे कम्पोज़ीटर लोग टाइपों में कम्पोज़ करते हैं। यह सब कम्पोज़ करके बहुत सी गेलियों में रक्खा जाता है और स्याही लगाकर मामूली काग़ज़ पर हाथ से ही छाप लिया जाता है। इसे प्रूफ़ या गेली-प्रूफ़ कहते हैं। याद रहे, जो कुछ प्रेस से संशोधन के लिए छप-कर आता है, वही प्रूफ़ कहलाता है। कम्पोज़ीटर लोग कम पढ़े-लिखे होते ही हैं, इसलिए कम्पोज़ करने में बहुत-सी गलतियाँ उनसे छूट जाती हैं। इनके संशोधन के लिए कुछ संशोधकों की आवश्यकता पड़ती है जो प्रूफ़रीडर कहलाते हैं। गेली-प्रूफ़ संशोधित हो जाने पर एक बार प्रूफ़, लेखक वा सम्पादक के पास भेजा जाता है। वहाँ से लौटकर आने पर सब मैटर पृष्ठों में बाँटा जाता है। इसे 'पेज बाँधना' या 'मेक अप' करना कहते हैं। 'मेक-अप' फ़र्मा फिर लेखक या सम्पादक के पास छापने की आज्ञा ( प्रिंट-आर्डर ) लेने के लिए भेजा जाता है। उसका संशोधन करके लेखक या सम्पादक छापने की आज्ञा या 'प्रिंट-आर्डर' देता है। इसके बाद

वे ग़लतियाँ सही की जाती हैं और प्रूफ़रीडर को फिर पढ़ने के लिए प्रूफ़ दिया जाता है। इसे 'रिवाइज़' करना कहते हैं इसके बाद वह प्रेस में छपने को दिया जाता है। पश्चात् मुद्रित रूप में वह हमारे सामने आता है।

पुस्तक या लेख शुद्ध छपवाने के लिए पाण्डुलिपि को पूर्णतया दुरुस्त करके देना चाहिए। कोई बात प्रूफ़ में ठीक करने के लिए नहीं रख छोड़नी चाहिए। यहाँ तक कि कामा, पाई भी ठीक-ठीक लगाकर भेजना चाहिए। उस पर भी यदि कुछ चीज़ें छूट जावें तो उन्हें 'गेली-प्रूफ़' में ही संशोधन कर देना चाहिए। 'मेक-अप' प्रूफ़ में एकाध ही लाइन बढ़ने से सारी पेज-बन्दी तोड़नी पड़ती है। इसे प्रेस की भाषा में 'मैटर चालना' कहते हैं। उससे कम्पोज़ीटर का काम बहुत बढ़ जाता है और साथ-ही-साथ छपाई का ख़र्च भी बढ़ जाता है।

गेली-प्रूफ़ पाण्डुलिपि से मिलाकर पढ़ना चाहिए। इसके लिए नियम यह है कि एक आदमी तो जिसे 'कापी-होल्डर' कहते हैं, पाण्डुलिपि को ज़ोर से पढ़ता जाय और प्रूफ़रीडर उसे सुनता जाय और प्रूफ़ को शुद्धि करता जाय। प्रूफ़रीडर को जो संशोधन करना हो उसे दोनों तरफ़ हाशिए में लिखना चाहिए। पहले तो बायीं तरफ़ से आरम्भ करे और अधिक ग़लतियाँ होने पर दाहिनी तरफ़ तक मार्क करता जाय। प्रत्येक संशोधन के बाद उसकी दाहिनी ओर एक तिरछी लाइन खींच देते हैं। यह लाइन दो संशोधनों को अलग करने के

लिए खींची जाती है। यह सब कुछ होते हुए भी हर एक प्रूफ़रीडर की अपनी शैली होती है। यदि प्रूफ़ में गलतियाँ

| नम्बर | संकेत | लाइन | नम्बर | संकेत | लाइन |
|---|---|---|---|---|---|
| 1 | ꝺ | 2,7,8·· | 20 | ! | 7 |
| 2 | ↺ | 4,8 | 21 | wf. | 11 |
| 3 | # | 5,10 | 22 | Ital. | |
| 4 | ¶ | 12 | 23 | ld> | 11-12 |
| 5 | ⁐ | 5,10,21 | 24 | Cap. | |
| 6 | □ | 12 | 25 | run on | 4 |
| 7 | [ | | 26 | // | 13 |
| 8 | ] | | 27 | ϟ | 17 |
| 9 | ⊔ | 3,10 | 28 | trs. | 3 |
| 10 | ⊓ | | 29 | stet. | 22 |
| 11 | ⅄ | 1,6,7··· | 30 | en | 12,10 |
| 12 | ,/ | 22 | 31 | em | 24 |
| 13 | ;/ | 19 | 32 | = | 15 |
| 14 | ɣɣ | 16 | 33 | ( | 10,11 |
| 15 | ɣ̓ɣ̓ | 12,24 | 34 | x | |
| 16 | ⊙ | | 35 | [illegible] | |
| 17 | (:) | 18 | 36 | (sp) | |
| 18 | ? | 14,23 | 37 | lc | |
| 19 | eq# | | 38 | rom. | |

चित्र—१

कम हों तो किसी तरह भी निशान लगाए जायँ कुछ हर्ज नहीं होता, लेकिन यदि अशुद्धियाँ ज़्यादा हों तो लाइन खींच

कर निशान बनाने में एक दूसरे से लाइन कट जाने के कारण गड़बड़ी पड़ती है। जब हाशिये में कहीं भी जगह नहीं रहती तब लम्बी लाइनें खींचकर जहाँ जगह होती है वहीं पर संशोधन लिख दिया जाता है।

हिन्दी में अभी संशोधन चिह्नों की कमी है, क्योंकि समस्त चिह्न अँग्रेज़ी से लिए गये हैं। इस लिए जब हिन्दी के प्रूफ़रीडरों के पास इन चिह्नों की कमी पड़ जाती है तब लिखकर काम चलाया जाता है। ऊपर के चित्र नं० १ में वे संशोधन-चिह्न दिये गये हैं, जिन्हें प्रूफ़रीडर प्रायः काम में लाते हैं। इस चित्र में बायीं ओर ऊपर से नीचे १ से ३८ तक गिनती दी गई है जो दूसरे ख़ाने में दिए हुए संकेत-चिह्नों की संख्या बतलाती है। उसके बादवाले खाने में संकेत-चिह्न हैं और उसके बाद वाले ख़ाने में चित्र नं० २ की उन पंक्तियों का नम्बर दिया हुआ है जिनमें उन चिह्नों का प्रयोग है।

इन संकेतों का पूरा विवरण इस प्रकार है—

( १ ) डिलीट या हटा दो। जिस अक्षर या शब्द को हटाना हो उसे तिरछी खड़ी लकीर से या पड़ी लाइन से काटकर हाशिए पर यह चिह्न बना देते हैं।

( २ ) टाइप उल्टा लगा है; सीधा कर दो। जिस टाइप को सीधा करवाना होता है वहाँ यह चिह्न काम आता है।

( ३ ) दोनों शब्दों या अक्षरों के बीच में और खाली

जगह करो। मिले हुए शब्दों या अक्षरों के बीच में चिह्न नं० ११ ( देखो चित्र नं १ ) लगा देते हैं।

( ४ ) पैराग्राफ़ शुरू करो। इसके लिए N. P. भी लिख देते हैं। जहाँ से पैरा शुरू कराना हो है उसके पहले चिह्न नं० ७ ( देखो चित्र नं० १ ) लगा देते हैं।

( ५ ) दो अक्षरों या शब्दों के बीच में छूटी हुई जगह भर दो।

( ६ ) एक 'एम' की जगह छोड़ दो, जैसे कि नया पैराग्राफ़ शुरू करते समय पहली पंक्ति की बायीं तरफ़ छोड़ी जाती है।

( ७ ) बायीं तरफ़ हटाओ या नया पैरा आरम्भ करो।

( ८ ) दाहिनी ओर हटाओ।

( ९ ) नीचे हटाओ।

(१०) ऊपर हटाओ।

(११) कोई अक्षर, शब्द, या विराम-चिह्न छूट गया है। जो कुछ छूट जाता है उसे हाशिये में लिख देते हैं।

( १२ ) कामा ( अल्प-विराम ) लगाओ। छूटे हुए स्थान पर चिह्न नं० ११ (देखो चित्र नं० १) लगा देते हैं।

( १३ ) सेमीकोलन ( अर्ध-विराम ) लगाओ। छूटे हुए स्थान पर चिह्न नं० ११ ( देखो चित्र नं० १ ) लगा देते हैं।

( १४ ) दोहरे अवतरण चिह्न लगाओ। छूटी हुई जगह में चिह्न न० ११ ( देखो चित्र नं० १ ) लगा देते हैं।

( १५ ) इकहरे अवतरण चिह्न लगाओ। छूटे हुए स्थान में चिह्न नं० ११ ( देखो चित्र नं० १ ) लगा देते हैं।

( १६ ) बिन्दी लगाओ।

( १७ ) कोलन लगाओ। छूटी हुई जगह में चिह्न नं० ११ ( देखो चित्र नं० १ ) लगा देते हैं।

( १८ ) प्रश्न चिह्न लगाओ। छूटी हुई जगह में चिह्न नं० ११ ( देखो चित्र न० १ ) लगा देते हैं।

( १९ ) शब्दों के बीच की जगह बराबर करो।

( २० ) विस्मय चिह्न लगाओ। छूटी जगह में चिह्न नं० ११ ( देखो चित्र नं० १) लगा देते हैं।

( २१ ) रॉंग फ़ाएट अर्थात् जिस टाइप में लेख कम्पोज़ हुआ है उससे भिन्न यह टाइप है, अतः बदल दो। ऐसे टाइप को या तो काट देना चाहिए या उसके नीचे एक लकीर खींच देनी चाहिए।

( २२ ) इटैलिक टाइप लगाओ। ऐसे शब्दों वा अक्षरों के नीचे एक लकीर खींच देनी चाहिए।

( २३ ) लेड भर दो अर्थात् दो लाइनों के बीच में और अधिक जगह करो।

( २४ ) कैपिटल अक्षर ( बड़े नं० वाला टाइप ) लगाओ ऐसे अक्षर के नीचे तीन लकीरें खींच देते हैं। ( इस चिह्न का प्रयोग अंग्रेजी प्रूफ़-संशोधन में ही होता है क्योंकि कैपिटल टाइप हिन्दी में नहीं होते। )

( २५ ) रन-आन, अर्थात् पैरा मत छोड़ो। कहीं-कहीं पैरा वाले चिह्न के पहले No लिखकर भी काम चला लेते हैं।

( २६ ) लाइन का पहला या अन्तिम अक्षर अन्य लाइनों के पहले अक्षरों की सीध में करो।

( २७ ) उठे हुए स्पेस को दबा दो। ऐसे उठे स्पेस को काट दिया जाता है।

( २८ ) ट्रान्सफ़र करो। इधर से दूसरी ओर ले जाओ।

( २९ ) कम्पोज़िंग जैसा है वैसा ही रहने दो। जब ग़लती से कोई शब्द या अक्षरों काट दिया जाता है पर उसका रखना अभीष्ट होता है तो इस चिन्ह का प्रयोग किया जाता है। कटे हुए अक्षर के नीचे (.........) इस प्रकार की डाट वाली लाइन कर दी जाती है।

( ३० ) एक एन ( छोटा डैश – ) लगाओ। छूटे हुए स्थान में चिन्ह नं० ११ ( देखो चित्र नं० १ ) लगा देते हैं।

( ३१ ) एक एम बड़ा डैश ( — ) लगाओ। छूटे हुए स्थान में चिन्ह नं० ११ ( चित्र नं० १ ) लगा देते हैं।

( ३२ ) इन अक्षरों वा शब्दों को लाइन के दूसरे अक्षरों की सीध में करो।

( ३३ ) दो पंक्तियों के बीच की जगह कम करो।

( ३४ ) अक्षर या शब्द स्पष्ट नहीं छपे हैं। अतः, स्पष्ट

छापो ऐसे अस्पष्ट शब्द या अक्षर को काट देते हैं।

( ३५ ) इस चिह्न का प्रयोग उस समय किया जाता है जब कि पाण्डुलिपि में स्पष्ट ग़लती लिखी हुई रहती है और सम्पादक या लेखक का ध्यान उधर आकृष्ट करना अभीष्ट होता है। इस चिह्न के बजाय क्वैरी (?), का भी प्रयोग होता है।

( ३६ ) गिनती की संख्या को अक्षरों में कम्पोज़ करो जैसे ५ को पाँच।

( ३७ ) लोअर केस अर्थात् बिना कैपिटल वाले अक्षरों में कम्पोज़ करो। ऐसे अक्षर को काट देते हैं। ( इसका भी प्रयोग अँग्रेजी के लिए ही होता है। )

( ३८ ) रोमन टाइप लगाओ। यानी इटैलिक टाइप का प्रयोग यहाँ मत करो। इटैलिक टाइप में लगे हुए अक्षर या शब्द के नीचे लकीर खींच देते हैं।

इन चिह्नों के प्रयोग को अधिक स्पष्ट करने के लिए अगले पृष्ठ पर दूसरा चित्र दिया गया है। इसमें चित्र नं० १ के लगभग सभी चिह्नों का समुचित प्रयोग आ गया है।

अन्त में हम यही कहेंगे कि प्रूफ़रीडिंग एक बड़े ही बखेड़े का काम होता है क्योंकि इसमें नवीनता का सर्वथा अभाव ही समझिए। वही एक ही प्रकार के चिह्नों के बार-बार प्रयोग से जी ऊब जाता है। लेकिन फिर भी इसमें थोड़ी बहुत नवीनता उत्पन्न की जा सकती है। प्रूफ़रीडर

उ/र/व/न अँस नी/ निशा मे मुझे ऐसा जा/ 1
पड़ा मानो कोई दूर पर सिसक रहा हो। क
आह! मुझे सुनाई स्पष्ट पड़ता था। पर यह
ध्वनि तो मानो किसी बालक की थी। 4
run on रोते हुए बालक की कल्पना ने मुझमें
न जाने कितनी स्मृतियाँ जाग्रत कर दीं/ उस
समय मुझमें कितना वात्सल्य प्रेम था/
विधाता की प्रवंचना ने उसे प्रस्फुटित होने 8
होने का अवसर ही न दिया था। पत्थर
से दबे हुए बीज की भाँति वह अंकु
आने पर केवल अँसुआ कर ही रह गया/
धीरे/धीरे सिसकना मानो मेरी कुटीर 12
के समीप आता जाता था। ऐं! क्या कोई मेरी
टट्टी पर हाथ रख रहा है/ यह कौन
आश्रय चाहता है? खोल दूँ क्या? वह
बोला, /मैं सर्दी से ठिठुर रहा हूँ।" 16
/मैंने दौड़कर टट्टी हटा दी। दीपक की
मन्द ज्योति मे मैंने देखा/ बालक की मू
र्त्ति अत्यन्त सौम्य थी/ उसके कोमल और
कपोलों पर अश्रु-बुन्द मोती की भाँति 20
चमक रहे थे। मैंने दौड़ कर उसे गोदी
में उठाकर पूछा, "पुत्र/ तुम कौन हो?
कहाँ से आते हो/"
प्राणी है जो यहाँ आज //मुनमुन/ से 24

का काम केवल शाब्दिक संशोधन ही नहीं है बल्कि उसमें कई अन्य बातों का भी ध्यान रखना पड़ता है; पृष्ठों की लाइनों में समान अन्तर; पृष्ठों की सजावट; लेखों के शीर्षकों आदि का उचित स्थान; छपाई का सौन्दर्य; ब्लाक आदि की ठीक जगह; उचित नम्बर के टाईपों का प्रयोग जिनसे छपाई सुन्दरतम जँचे इत्यादि, इत्यादि। यदि मनुष्य सरस हो तो उसके लिए नीरस विषय को सरस बना लेना कुछ कठिन नहीं है। हमारा विचार है कि प्रूफ पढ़ना एक प्रकार से तपस्या करनी है जिसमें अपनी रुचि उसी विषय की ओर लगा देनी पड़ती है जिसका प्रूफ़ पढ़ना है चाहे वह विषय अपने लिए अरुचिकर ही क्यों न हो; यही कठिनाई उसमें है।*

*यह लेख श्रीमहेन्द्रनाथ जी पाण्डेय की रचना है। आप 'लेखक' के सहकारी सम्पादक थे।

—भा०

# स्वान्तस्सुखाय !

हम लिखते हैं स्वान्तस्सुखाय और लिखेंगे स्वान्तः सुखाय ! इस सुख का अनुभव वही कर सकता है, जो लेखक है जो लिखता है। पैसों के लिये लिखनेवाले पैसा भले ही पा लें पर वे उस सुख से वञ्चित रह जाते हैं, जो साहित्य-सेवी का विशेष अधिकार है।

साहित्य अमर है। साहित्यकार भी अमर होता है। ऐसा क्यों? एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है :—'साहित्य-कार ( लेखक ) अपने विचारों का बीज सर्वत्र छिटक देता है—महलों में, सड़कों पर भी। ये उगते हैं, बढ़ते हैं, फल लाते हैं। कब? जब बोनेवाले का अस्तित्व नहीं रह जाता—वह पञ्चभूत में मिल जाता है—उसकी कीर्ति-स्मृति भी कदाचित् लुप्त हो जाती है। ऐसे कितने होंगे जो सदा स्मरणीय रहेंगे? परन्तु प्रत्येक लेखक के विचार अमर हैं; वे जीवित रहते हैं—विचारों के संसार में, जो मानव जाति की एकमात्र अमर सम्पत्ति है।'

इसीसे हम कहते हैं—कि लिखना, अपने विचारों को लिपिबद्ध करना नैसर्गिक प्रेरणा है। इस स्वर्गीय संस्कार को सोने न देना चाहिए।

—श्रीभारतीय

मुद्रक—ए० बो० वर्मा, शारदा प्रेस—प्रयाग